॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१५३

॥ श्रीः ॥

कारक-दर्शनम्

(सिद्धान्तकौमुदी-कारकप्रकरणम्)

व्याख्याकार

डॉ० श्रीकलानाथ झा

(अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, : टी० एन्० बी० कालेज, भागलपुर)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६९

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
153

KĀRAKADARŚANA

(The Kāraka portion of the Siddhānta Kaumudī)

An Authoritative Study of Sanskrit Syntax

By
DR. KALĀNĀTHA JHĀ
Head, Deptt. of Sanskrit, T. N. B. College, Bhagalpur.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1969

दिवंगत पं० रामनारायण शर्मा जी

की स्मृति में

जिन्होंने मुझे

संस्कृत-व्याकरण में प्रवेश कराया।

अपनी बात

एम० ए० संस्कृत की परीक्षा पास करने के बाद प्राध्यापक होने पर व्याकरण पर कुछ लिखने की इच्छा जगी—केवल विद्यार्थियों के लाभ के लिये, इससे अधिक और कुछ नहीं। संस्कृत व्याकरण में मुनियों ने 'इससे अधिक' कुछ लिखने को अवसर ही कहाँ छोड़े हैं ?

डेढ़-दो साल नौकरी में प्रवेश पाते हुए कि प्रस्तुत कार्य में हाथ लगाया। थोड़े-थोड़े दिनों के लिये यत्नपूर्वक लगने पर दो वर्षों में, कार्य समाप्त हुआ। भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर, और कुछ अपनी विवेक-बुद्धि में भी जो बात संगत लगी उसका समावेश यत्र-तत्र करता गया। सोचा कुछ विद्वानों को दिखा दूँ। इसी क्रम में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, भागलपुर, के व्याकरण-प्राध्यापक पं० सदनमोहनझाजी को कुछ अंश पढ़कर सुनाया। उन्होंने मेरे दृष्टिकोण की सराहना की और उत्साह दिया जिसके लिये मैं सतत उनका आभारी रहूँगा। इस प्रकार आद्योपान्त पढ़कर मैंने नवीन सूझों को रक्खा। पुनर्लेखन की समस्या सामने आई जिसे मैं कई साल बाद हल कर पाया हूँ। प्रकाशक को भी जटिल प्रकाशन कार्य सम्पन्न करने के हेतु साधुवाद देता हूँ।

बातों को साफ-साफ लिखने के फेरे में पुस्तकाकार में कुछ वृद्धि हो गई है, पर मैं पाठक की समझ के मूल्य पर संक्षेप अच्छा नहीं समझता। अधिक लोकप्रिय बनाने के लिये जकड़ी संस्कृतनिष्ठ भाषा से विचारों की मुक्ति दिलाना भी मेरा प्रयोजन रहा है। विश्वास है

पुस्तक न केवल पाठ्य के रूप में, अपितु साधारणज्ञान की दृष्टि से भी उपयोगी होगी।

प्रतिपाद्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के हेतु पादटिप्पणियों का आवश्यकतानुसार सन्निवेश करके तथा सूत्र वार्तिक प्रयोगों की अनुक्रमणी परिशिष्ट में देकर मैंने आधुनिकता लाने की चेष्टा की है। व्याख्या महाभाष्य, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा तथा तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा ऐसी सिद्ध, सुविख्यात टीकाओं पर आधारित है। व्याख्याक्रम में फक्किकाओं को नहीं छोड़ा है—प्रयोग की दृष्टि से उनका महत्त्व हो या न हो, विचार की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं ही। पुनः इस तरह की सरल भाषा में उन्हें समझाने का प्रयास हुआ है कि उनकी विभीषिका प्रायः नष्ट हो गई है। किंतु अपने श्रम को तब तक मैं सफल नहीं समझूँगा जब तक इसे पढ़ कर असंस्कृतज्ञ संस्कृतानुरागी भी आनंद न लें। अंत में दी हुई पारिभाषिक शब्द और सन्दिग्ध प्रयोगों की सूची छात्रों के लिये बहुत उपादेय सिद्ध होगी ऐसा आशा है।

वाक्य रचना में सर्वाधिक महत्त्व रखने के कारण कारक दर्शन ही सबसे पहले पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ। अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध 'दर्शन' भी शनैः शनैः उपस्थापित करूँगा।

श्रीरामनवमी, १९६९ }
भागलपुर विश्वविद्यालय }

कलानाथ झा

भूमिका

पारिभाषिक एवं कर्त्ता कारक : प्रथमा विभक्ति

करोतीति कारकम्। किं करोति ? क्रियां करोति, निष्पादयति, क्रियोत्पत्तौ सहायते।

जो क्रिया का करनेवाला हो, सम्पादन करनेवाला हो, क्रिया की उत्पत्ति में सहायक हो उसे कारक कहते हैं। कारक और क्रिया में पारस्परिक अकांक्षा होती है। इनमें से एक के रहने से दूसरे की चाह उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, क्रिया कारक के तथा कारक क्रिया के पूरक होते हैं। एक की स्थिति दूसरे के विना संभव नहीं। उदाहरणस्वरूप, 'गच्छति' कहने से ही अर्थ पूर्ण नहीं होता। इसके वाद अकांक्षा पैदा होती है—कः गच्छति, कुत्र गच्छति, कुतः गच्छति, कथं गच्छति आदि। पश्चात् मालूम होता है—श्यामः गच्छति, गृहं गच्छति, नगराद् गच्छति, पठनाय गच्छति आदि। तव 'गच्छति' क्रिया की आकांक्षा पूरी होती है। इसी प्रकार खाली 'श्यामः' कहने से आगे क्रिया की आकांक्षा जगती है कि श्यामः किं करोति ? पश्चात् पदार्थानुकूल 'गच्छति' क्रिया जोड़ देते है और तब वाक्य पूर्ण होता है—श्यामः गच्छति। क्रियाकारकत्वसम्बन्ध ही वस्तुतः वाक्य है। इसी भाव को कुछ लोगों ने 'क्रियाजनकं कारकम्', 'क्रियान्वयि कारकम्', 'क्रियानिर्वर्त्तकं कारकम्' आदि कह कर दुहराया है। किन्तु गौर से देखने पर इनमें कुछ अन्तर मालूम पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, क्रियां जनयतीति क्रियाजनकं कारकम्। तत्कथम् ? आकांक्षादिना। इस परिभाषा में हम कारक को मान लेते हैं और उसके वाद क्रिया की उत्पत्ति स्वतः हो जाती है। दूसरी ओर, क्रियाम् अन्वेतीति क्रियान्वयि कारकम्। अर्थात् क्रिया के पश्चात् जो आता है या क्रिया के अन्वय से ही जिसका अन्वय हो जाता है उसे कारक कहते हैं।

इस परिभाषा में हम क्रिया की स्थिति पहले मान लेते हैं और तब कारक की स्थिति आवश्यक दीख पड़ती है । इसी प्रकार क्रियां निर्वर्त्तयतीति क्रियानिर्वर्त्तकं कारकम् । अर्थात् क्रिया का जो निर्वर्त्तन तथा निर्वहण करे या जिसके बिना क्रिया का रहना कोई अर्थ नहीं रखता हो, वही कारक कहलाता है ।

स्पष्टतः क्रियाकारक के अवियोज्य सम्बन्ध को हम अन्वय-व्यतिरेक (Joint Method of Agreement and Difference) के द्वारा सिद्ध कर सकते हैं । अन्वय होता है—तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्—किसी एक पदार्थ के रहने पर किसी अन्य अपेक्षित पदार्थ का रहना; और व्यतिरेक होता है—तदभावे तदभाव —किसी एक पदार्थ के नहीं रहने पर दूसरे पदार्थ का भी नहीं रहना । वस्तुतः ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी कारक के रहने पर अपेक्षित क्रिया उत्पन्न हो जाती है और किसी क्रिया के रहने पर प्रासंगिक कारक उत्पन्न हो जाता है । दूसरी तरफ, किसी भी कारक के नहीं रहने पर क्रिया निष्प्रयोजन हो जाती है तथा किसी भी क्रिया के सर्वथा अभाव में कोई भी कारक निराधार एवं असंभव हो जाता है । इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर क्रिया और कारक का महत्त्व एक-सा प्रतीत होता है यद्यपि शब्दशास्त्र की दृष्टि से क्रिया की सर्वत्र मुख्यता घोषित होती है क्योंकि किसी भी कारक के मूल में क्रिया का ही अस्तित्व होता है और इस तरह किसी कारक का अस्तित्व भी क्रिया के अस्तित्व पर ही संभव होता है । इसके विपरीत न्याय की दृष्टि से देखने पर कारक की प्रधानता और क्रिया की गौणता सर्वत्र प्रतीत होगी । वस्तुत यह प्रश्न कुछ हद तक इस भाषावैज्ञानिक प्रश्न से जुड़ा है कि सभी प्रातिपदिक धातुनिष्पन्न होते हैं या नहीं ।[1] इस पर निरुक्तकार यास्क गंभीर विचार करते हैं । इस प्रकार यदि सभी प्रातिपदिक धातु निष्पन्न माने जाँय तो क्रिया-कारक सम्बन्ध में अवश्य ही क्रिया का

---

१. द्रष्टव्य : निरुक्त : १।१२ : तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके । तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति । अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथा चक्षीरन्.................. ।

महत्त्व बढ़ जायगा। अन्यथा इस दृष्टिकोण से विचार करने पर कि कारक के बिना क्रिया भी निराधार और विधवा हो जाती है, कारक का महत्त्व अधिक दीखता है।

ऊपर की परिभाषाओं में 'क्रियाजनकं कारकम्' में कारक के द्वारा क्रिया की उत्पत्ति दिखलाई गई है जैसा कहा जा चुका है और इससे क्रिया के ऊपर कारक की मुख्यता दीख पड़ती है। 'क्रियान्वयि कारकम्' में क्रिया की उत्पत्ति के द्वारा कारक की उत्पत्ति दिखलाई गई है तथा इससे कारक के ऊपर क्रिया की प्रधानता स्पष्ट होती है। परन्तु, कारक या क्रिया, किसी की भी मुख्यता कहीं नहीं समझनी चाहिये। वस्तुतः बात ऐसी है कि दोनों परिभाषाओं में—एक जगह कारक की स्थिति मानकर उसके दृष्टिकोण से और दूसरी जगह क्रिया की स्थिति मानकर उसकी दृष्टि से दूसरे की स्थिति और उत्पत्ति पर विचार किया गया है और ऐसा किया गया है केवल दोनों का तादात्म्य और परस्पर निर्भरता बतलाने के लिये। तीसरी परिभाषा केवल पहली परिभाषा के भाव को ही स्पष्ट करती है।

क्रिया की सिद्धि में सहायक होने वाले कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक कहलाते हैं[1]। कारक होने के लिए किसी पद का क्रिया के साथ साक्षात् और व्यवधानरहित सम्बन्ध (Direct and continuous relation) होना अनिवार्य है। 'राज्ञः पुरुषः गच्छति' इस वाक्य में 'गच्छति' इस क्रियापद का केवल 'पुरुषः' के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, न कि 'राज्ञः' के साथ भी। 'राज्ञः' और 'गच्छति' में साक्षात् संबंध तब कहा जा सकता था जब 'राज्ञः गच्छति' का कोई अर्थ निकलता। फिर 'राज्ञः' और 'गच्छति' के बीच 'पुरुषः' पद का व्यवधान होने से सम्बन्ध परोक्ष तथा दूर हो गया है। अतः 'गच्छति' के साथ अन्वय अर्थवान् होने से 'पुरुषः' पद का तो कारकत्व होगा परन्तु 'राज्ञः' और 'पुरुषः' में जो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है वह 'गच्छति' क्रिया के साथ अनन्वित एवं व्यर्थ हो जाता है। अतः सम्बन्ध कारक नहीं।

---

१. कर्त्ता कर्म च करणञ्च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट् ॥

किन्तु वैदिक प्रयोग में कुछ ऐसे स्थलों में जहाँ सम्बन्ध के साथ क्रिया का साक्षात् तथा स्वतंत्र प्रयोग हो वहाँ सम्बन्ध कारक माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप 'पात्रस्य जलं पिबति' के स्थान में 'पात्रस्य पिबति' ऐसा प्रयोग मिलता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ऐसी जगहों में भी सम्बन्ध-युक्त पद तथा क्रिया का सम्बन्ध केवल शब्दतः साक्षात् रहता है, अर्थतः नहीं क्योंकि दोनों के बीच किसी पद की स्थिति अवश्य होती है जो गम्यमान (Understood) रहती है। पुनः यदि ऐसी स्थिति में सम्बन्ध को कारक माना जा सकता है तो जहाँ कर्म आदि कारकों की शेषविवक्षा या की सम्बन्धविवक्षा की जाती है वहाँ भी 'एधोदकस्योपस्कुरुते, 'मातुः स्मरति' आदि वाक्यों में सम्बन्ध को कारक माना जा सकता है। लेकिन इस वृत्ति की परिधि में रहने पर भी 'सतां गतम्' आदि में कभी भी सम्बन्ध को कारक नहीं माना जा सकता जैसा 'षष्ठी शेषे'[1] सूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत स्पष्ट किया जायगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में न वास्तविक क्रियापद वर्तमान रहता है और न इसलिये कोई अन्य पद सम्बन्धयुक्त पद और क्रियापद के बीच गम्यमान दीख पड़ता है। इसकी सिद्धि 'कर्तृकर्मणोः कृति'[2] सूत्र से भी हो सकती है।

लेकिन गौर से देखा जाय तो कारकत्व की कसौटी साक्षात्सम्बन्धत्व से भी अधिक क्रियाजनकत्व प्रतीत होगी। कारक होने के लिये साक्षात्सम्बन्ध आवश्यक है किन्तु उससे भी अधिक क्रियाजनकत्व आवश्यक है। वस्तुतः अधिकरण का भी क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है लेकिन उसका क्रियाजनकत्व होता है, और इसीलिये वह कारक है। साक्षात् सम्बन्ध पहली सीढ़ी है और क्रियाजनकत्व आगे की सीढ़ी। सम्बन्ध में क्रिया के साथ साक्षात्सम्बन्ध ही नहीं रहता तो उसमें क्रियाजनकत्व भला कैसे हो सकता है? इसके विपरीत अधिकरण में साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहने पर भी क्रियाजनकत्व रहने के हेतु कारकत्व माना जाता है। इसीलिये तो बिना क्रियापद का 'ग्रामम्' 'वृक्षात्' आदि कारकान्त प्रयुक्त पद जितना खराब मालूम पड़ता है उतना

१ पाणिनि : २।३।५०।
२. ,, : २।३।६५।

खराब 'वृक्षे' या 'स्थाल्याम्' नहीं दीखता। हाँ, जहाँ प्रश्नोत्तर में क्रियापद गम्यमान रख लिया जाय वहाँ 'ग्रामम्' आदि पद भी प्रयोग के रूप में खराब नहीं लगेंगे, इसलिए कि एक तरह से ऐसे स्थल में क्रियापद रहता ही है। दूसरी तरफ, जब प्रश्न में प्रयोग करके उत्तर में भी प्रयोग किया जाय तो पुनरुक्ति की तरह ही प्रतीत होगा[1]। और 'स्थाल्यां पचति' में 'स्थाल्याम्' का यद्यपि 'पचति' क्रिया के साथ आवश्यक साक्षात् सम्बन्ध नहीं दीखता है तथापि 'स्थाल्याम्' कहने से 'पचति' क्रिया की उत्पत्ति हो जाती है। यही अधिकरण का क्रियाजनकत्व है।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६। नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये (परिमाणमात्रे) संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः, नीचैः, श्रीः, ज्ञानम्। 'अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्रे' इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य। तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः, द्वौ, बहवः। इहोक्तार्थत्वाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।

पहले प्रश्न उठता है कि प्रातिपदिकार्थ क्या है? अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकं, तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः नियतोपस्थितिकः। ऐसा सार्थक शब्द जो न केवल धातु है, न केवल प्रत्यय है अर्थात् जो धातु और प्रत्यय दोनों से निष्पन्न है वही प्रातिपदिक कहलाता है। 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या' इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि केवल प्रकृतिभूत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है, इसीलिये विभक्ति लगानी पड़ती है। शब्द को व्यवहारयोग्य बनाने के लिये प्रथमतः

---

१. गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्।

जो विभक्ति लगायी जाती है वह प्रथमा कहलाती है। यह प्रातिपदिकार्थमात्र में होती है। प्रातिपदिकार्थ के आधार पर ही प्रातिपदिक से पद बनाया जाता है। यह मूलत. पाँच प्रकार से संभव है। दूसरे शब्दों में पाँच तरह से अव्युत्पन्न प्रातिपदिक वैध व्युत्पन्न पद कहला सकते हैं। 'स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारका-त्मक. पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः'। इसी को किसी ने कहा है—'प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिर्लिङ्गं संख्या कारकञ्चेति पञ्चप्रकारक. प्रातिपदिकार्थः'। स्व. अर्थः स्वार्थं विशेषणम्। स्वार्थ कहते हैं गुण को ,जो द्रव्य या व्यक्ति को विशेषित करता है। इसी को प्रवृत्तिनिमित्त भी कहते हैं क्योंकि यह तद्व्यक्ति के तद्व्यक्तित्वेन ज्ञान की प्रवृत्ति में निमित्त होता है। द्रव्यं व्यक्तिर्विशेष्यम्। व्यक्ति या द्रव्य वह है जो गुणों के द्वारा विशेषित होता है। व्यक्ति और गुण में परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है क्योंकि व्यक्तिवाचकता (या वस्तुवाचकता?) गुणवाचकता के बिना संभव नहीं और न गुणवाचकता ही व्यक्तिवाचकता के बिना। दोनों ही की उपस्थिति नियत (अर्थात् निश्चित) रहती है। 'राम' कहने से 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्—अर्थवाला जो तत्तद्गुण से परिच्छिन्न 'दाशरथि (राम)' है उसी का बोध होता है। वे विशेष गुण भी उसमें सतत और अवश्य पाये जायेंगे। पुन. इन गुणों से युक्त वही व्यक्ति होगा, दूसरा नहीं। इस प्रकार व्यक्तित्व की स्थिति भी बराबर स्थिर तथा अपरिवर्तनीय है। इसी कारण 'राम' व्यक्ति और उस व्यक्ति के 'दाशरथि'आदि' गुण विशेष प्रातिपदिकार्थ होंगे। प्रातिपदिकार्थ होने से स्वार्थ और द्रव्य दोनों में ही प्रथमा विभक्ति होगी। इसी जटिल विषय को व्याकरण की सरल भाषा में कहेंगे—विशेष्य (व्यक्ति) के अनुसार ही विशेषण (स्वार्थ) होगा। इसलिये विशेष्य में यदि किसी शब्द के प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होगी तो विशेषण में भी। परन्तु, विशेषण के लिङ्गवचन होंगे विभक्ति के साथ-साथ विशेष्य (द्रव्य) के लिङ्गवचन के अनुकूल ही—क्योंकि विस्तृत अर्थ में 'विभक्ति' शब्द के अन्तर्गत किसी विशेष लिङ्ग-वचन में किसी विशेष अवस्था में लगाये गये तत्त्व का अर्थ निहित है।

इस स्वार्थ-द्रव्य के अतिरिक्त लिङ्गसंख्याकारक भी प्रातिपदिकार्थ हैं क्या? लिङ्ग के सम्बन्ध में विचार करने से पता चलता है कि शब्द तीन तरह के होते

हैं। कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका कोई लिङ्ग ही नहीं होता है, ये अलिङ्गक हैं; अव्यय हैं जैसे, उच्चैः, नीचैः आदि। यन्नव्येति तदव्ययम्।[1] पुनः कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका लिङ्ग निश्चित होता है जैसे, 'कृष्णः'। किन्तु जब 'कृष्ण' शब्द का अर्थ संज्ञा (Proper name) में 'वासुदेव' होगा तभी यह नियत-लिङ्गक होगा अन्यथा जब इसका अर्थ 'काला' होगा तो यह विशेषण होने के कारण विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों में हो सकता है, उदाहरणस्वरूप, कृष्णः पटः, कृष्णा शाटी, कृष्णं वस्त्रम्। इन दो प्रकार के शब्दार्थ की उपस्थिति निश्चयात्मक है। परन्तु कुछ शब्द एक से अधिक लिङ्ग में पाये जाते हैं जैसे, तटः, तटी, तटम्। तीनों लिङ्गों में 'तट' शब्द व्याकरण के अनुसार ठीक है। इसी श्रेणी में उपर्युक्त विशेषणरूप 'कृष्ण' आदि शब्द भी आ सकते हैं। इस प्रकार अलिङ्गक और नियतलिङ्गक शब्दों के उनके अर्थों की नियत उपस्थिति के कारण प्रातिपदिकार्थ माने जाने पर भी अनियतलिङ्गक शब्दों के अर्थ की अनिश्चया-त्मकता के हेतु 'लिङ्ग' को प्रातिपदिकार्थ मानने में कुछ दिक्कत है। प्रातिपदिकार्थ मान लेने पर अवश्य ही स्पष्टीकरणार्थ 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग—' इस सूत्र में प्रातिपदिकार्थ से पृथक् इसका निर्देश किया गया, जिससे अनियतलिङ्गक शब्दों के अर्थ की अनियतता के कारण लिङ्ग को प्रातिपदिकार्थ समझने में कोई धोखा न हो, अन्यथा 'तटः, तटी, तटम्' आदि शब्दों में भी प्रथमा विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती या होने पर भी न्याय्य नहीं समझी जाती। अतः 'लिङ्ग' का प्रातिपदिकार्थ में ग्रहण किया जा सकता है।

परन्तु, संख्या और कारक तो प्रातिपदिकार्थ हो ही नहीं सकते। ये विभक्त्यर्थ हैं। एक, द्वि, बहु संख्या से विभक्त्यर्थ का बोध होता है। सूत्र में संख्या को वचन कहा गया है—उच्यते अनेन तद्वचनम्। किम् उच्यते? संख्येति। इसलिये एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन से क्रमशः एक, दो तथा बहुत संख्या का बोध होता है। अब 'राम' शब्द की प्रथमादि विभक्ति में अर्थ

---

१. पूरी कारिका :

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

व्यक्तित्व या द्रव्यविषयत्व के रूप में निर्धारित होता है कि राम कितने हैं आदि। दाशरथिपरशुरामबलरामादयः। लेकिन प्रश्न यह है कि जब 'राम' शब्द के दो या तीन अर्थ हो सकते हैं तो उसकी व्यक्तिवाचकता (Denotation) में कोई निश्चयात्मकता कहाँ रही? वस्तुत. जब कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त होता है तो चाहे उसके कितने भी अर्थ क्यों न हों, प्रसंगानुकूल उसका एक ही अर्थ होगा। 'कृष्ण' शब्द का 'वासुदेव' और 'काला' अर्थ भी तो प्रसंगानुकूल ही निर्धारित होता है। इसी तरह जब 'राम' शब्द द्विवचन या बहुवचन में प्रयुक्त होगा तो प्रसंगानुकूल उपर्युक्त दो या तीन 'रामों' का बोध हो सकता है या, यदि कुछ लोगों का यह नाम हो तो उस नाम से दो या अनेक व्यक्ति का बोध हो सकता है। मेरे विचार में चूँकि एक नाम के अनेकों व्यक्तियों में भी गुणवाचकता में भेद होंगे ही, इसलिये व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द के केवल एकवचन में रूप होने चाहिये।

अब रही कारक की बात। इसको प्रातिपदिकार्थ मान लेना तो अनर्थक होगा। यदि कर्मकरणादि अन्य कारकत्व के माध्यम प्रातिपदिकार्थ हो सकते हैं तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सर्वत्र 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' प्रथमा होगी। यह असंगत है कि कर्मकारक में द्वितीया की जगह प्रथमा हो। साथ-साथ यह कुछ विपरीत प्रक्रिया ऐसी मालूम पड़ती है कि पहले कारकत्व हो और तब प्रातिपदिकार्थत्व। निश्चय ही कारकत्व के लिये प्रातिपदिकार्थत्व आवश्यक है, न कि प्रातिपदिकार्थत्व के लिये कारकत्व क्योंकि कारकत्व साध्य है और प्रातिपदिकार्थत्व उसका साधन। पहले प्रातिपदिकार्थत्व आता है और तब कारकत्व। पुनः ये कारक प्रातिपदिकार्थ की नियतोपस्थितिकता पर भी खरा नहीं उतरते हैं क्योंकि कारक एक ही नहीं है। लेकिन लिङ्ग में भी तो अनिश्चयात्मकता रहती है? और से विचार किया जाय तो दोनों की अनिश्चयात्मकता में अन्तर स्पष्ट हो जायगा। कोई शब्द जब विहित किसी लिङ्ग में आ जाता है तब उस क्षण उसके अर्थ में पूरी नियतोपस्थितिकता रहती है। फिर वह एक पूर्ण शब्द (Full fledged word) रहता है। इसके विपरीत, कारक तो कोई अलग शब्द नहीं है—इसकी विभक्ति प्रत्यय शब्द की वस्तु होती है, जो शब्द की पूर्णता में सहायक होती है।

यह भी कारक के प्रातिपदिकार्थ मानने के विरुद्ध तर्क है। वस्तुतः स्वार्थ और द्रव्य दो ही प्रकार से प्रातिपदिकार्थ संभव हैं। किसी तरह 'लिङ्ग' का भी समावेश कर लेने पर तीन प्रकार से प्रातिपदिकार्थ की संभावना की जा सकती है। सूक्ष्म विचार करने से तो प्रातिपदिकार्थ एक ही है—व्यक्ति। इसे ही द्रव्य या विशेष्य भी कहा जाता है। स्वार्थ या विशेषण तो इसी का आवश्यक अंग है। संख्या और लिङ्ग भी तो विशेषण ही होते हैं। वचन के द्वारा जिस प्रकार व्यक्ति की संख्या विशेषित होती है, उसी प्रकार लिङ्ग के द्वारा व्यक्ति का संस्थान या स्वरूप। कारक इस प्रकार कभी भी प्रातिपदिकार्थ नहीं हो सकता है।

मेरी समझ में उपर्युक्त विवेचन में यह नहीं समझ करके कि स्वार्थ, द्रव्य, लिंग आदि प्रकार के प्रातिपदिकार्थ होते हैं, यदि यह समझा जाय कि ये प्रातिपदिकार्थ होने की शर्त्तें हैं तो अच्छा होगा। किसी भी प्रातिपदिक के लिये प्रवृत्तिनिमित्त, द्रव्य, लिंग, संख्या आदि की निश्चयात्मकता आवश्यक है कि जिसके विषय में कहा जा रहा है वह कौन-सा द्रव्य है, किस लिंग का है, एक है या दो—आदि। जब यह निश्चित हो जाता है कि राम व्यक्ति है, पुल्लिंग है, एक है (और प्रसंगानुकूल निर्धारित होता है कि 'दाशरथि' है) आदि तब 'राम' शब्द के उच्चारण के साथ ही उस व्यक्ति का चित्र मस्तिष्क में सद्यः उपस्थित हो जाता है। यही नियतोपस्थितिकता है, और प्रातिपदिकार्थत्व के लिये अनिवार्य शर्त्त है।

पुनः 'प्रातिपदिकार्थलिंग—' सूत्र में एक अंग और है—'परिमाणमात्रे प्रथमा'। यह पञ्चविध प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत नहीं रक्खा गया है। परन्तु, यह केवल प्रातिपदिकार्थ का अवान्तर भेद हो सकता है। परिमाणं प्रत्ययार्थः। 'द्रोणो व्रीहिः' उदाहरण में 'द्रोण' शब्द में जो सुप् प्रत्यय है वह 'व्रीहि' प्रकृति (अर्थात् मूलभूत शब्द) से उपचार (अर्थात् लक्षणा) के द्वारा अभेदान्वय रखता है। अभेदसम्बन्ध में 'गौर्वाहीकः' की तरह ही जिस प्रकार 'व्रीहि' शब्द में प्रथमा विभक्ति होगी उसी प्रकार 'द्रोण' शब्द में भी। दोनों में जो प्रथमा हुई उसका समावेश हम प्रातिपदिकार्थ में कर सकते हैं क्योंकि 'सिंहो माणवकः' की तरह 'द्रोणो व्रीहिः' में प्रथम पद द्वितीय का विशेषण है।

जिस प्रकार 'माणवक' का अर्थ 'सिंह' के अर्थ में विशेषित तथा परिच्छिन्न है उसी प्रकार 'व्रीहि' का अर्थ 'द्रोण' के अर्थ में। परन्तु जहाँ प्रथम उदाहरण में 'सिंह' के गुण के 'माणवक' में आरोपित हो जाने के कारण अभेदसम्बन्ध है वहाँ द्वितीय में 'द्रोण' में 'व्रीहि' की परिच्छिन्नता ही अभेदसम्बन्ध को बतलाने में समर्थ है। इस तरह सूत्र में प्रथमा विभक्ति होने का हेतु स्पष्ट करने के लिये लिंग का पृथक् निर्देश किया गया और परिमाण को प्रातिपदिकार्थ से भेद करने का तात्पर्य 'परिमाण' के अर्थ 'परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव' को स्पष्ट करना दीख पड़ता है। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है कि जिस प्रकार 'सिंहो माणवकः' में 'सिंह' शब्द 'माणवक' का विशेषण होते हुए भी साधारण विशेषण से भिन्न है उसी प्रकार यहाँ 'द्रोण' भी 'व्रीहि' का। इस दृष्टि से यद्यपि 'द्रोण' और 'व्रीहि' दोनों शब्दों के अलग-अलग प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा विभक्ति हो सकती है, फिर भी एक साथ इस अर्थ में रहने पर 'व्रीहि' पद में उक्त हेतु से युक्त होने पर भी शायद 'द्रोण' शब्द में प्रथमा नहीं होती। फिर भी, गौर से देखने पर यह कहा नहीं जा सकता कि सूत्र में 'परिमाण' का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक था।

सूत्र को 'सारवत्' होते हुए भी 'असन्दिग्ध' होना चाहिये[1]। हो सकता था, खाली 'प्रातिपदिकार्थ मात्रे प्रथमा' लिखने से पश्चात् लोग 'प्रातिपदिकार्थ' में स्वार्थ और द्रव्य ही समझते। परन्तु, लिंगपरिमाणवचन में भी प्रथमा विभक्ति होती है। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते'। अतः प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण, वचन के अन्त में जो 'मात्र' शब्द है उसका सबके साथ योग है। सबों में अलग-अलग प्रथमा विभक्ति होगी। किन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि पिछले कितने वैयाकरणों ने 'लिंगपरिमाणवचन' का समावेश 'प्रातिपदिकार्थ' में ही करके 'प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा' लिखा। सरलीकरण की दृष्टि से यह ठीक है, लेकिन तत्त्व की दृष्टि से भी यह व्यापक

---

1. सूत्र की परिभाषा :

> अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
> अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

और पूर्ण मालूम पड़ता है। ऊपर के विवेचन से जैसा निष्कर्ष स्वाभाविक है, लिंग, परिमाण और वचन (संख्या) में भी, कहीं द्रव्य (व्यक्ति या वस्तु) और कहीं स्वार्थ (विशेषण) के रूप में—विशेष्य में साक्षात् और विशेषण में विशेष्य-द्वारक होने से परोक्ष नियतोपस्थितिकता रहती है। लिंग में नियतलिंगक और अलिंगक शब्द प्रत्यक्ष रूप से नियतोपस्थितिक होते हैं और बाकी अनियत-लिंगक विशेषण, परिमाणवाची तथा संख्यावाची शब्द परोक्ष रूप से। इनमें परिमाणवाची की स्थिति विशेष्यविशेषण-उभय-प्रकारक होती है जैसा 'द्रोणो व्रीहिः' से स्पष्ट है : विशेष्य इसीलिये चूँकि पृथक् साधारणतया प्रयुक्त होने से वह विशेष्य है और विशेषण इसलिये कि उपचार से वह 'व्रीहि' का विशेषित करता है। इसके विपरीत, संख्यावाची की स्थिति स्पष्टतः केवल विशेषण-प्रकारक होती है।

सम्बोधने च ।२।३।४७। इह प्रथमा स्यात्। हे राम !

सम्बोधनम्—अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करके कुछ कहने को सम्बोधन कहते हैं। यहाँ 'सम्बोधन' पद से उस व्यक्ति का बोध होता है जिसका ध्यान आकर्षित किया जाता है। उसमें प्रथमा विभक्ति होगी, कारण जिस व्यक्ति का सम्बोधन होता है, वह सम्बोधन उसका पदार्थत्वेन होता है। जब राम का सम्बोधन करते हैं 'हे राम' तो 'राम' व्यक्ति को उसी रूप में सम्बोधित करते हैं जिस रूप में वह जाना जाता है। इसीसे उसका प्रातिपदिकत्व सिद्ध होता है और उसमें 'प्रातिपदिकार्थलिंग—' सूत्र से ही प्रथमा होती है। परन्तु 'हे राजन्, सार्वभौमो भव' में 'राजन्' की तरह 'सार्वभौम' पद भी सम्बोधन नहीं होगा, कारण 'राजा' तो अभी 'सार्वभौम' नहीं हुआ है—केवल उसके 'सार्वभौम' होने की कामना की जाती है। वस्तुतः 'सार्वभौम' का 'राजन्' के साथ पदार्थत्वेन बोध नहीं होता है।

॥ श्रीः ॥

कारक-दर्शनम्

(सिद्धान्तकौमुदी-कारकप्रकरणम्)

कारके ।१।४।२३। इत्यधिकृत्य ।

कर्ता, कर्म, करण आदि कोई भी कारक इसी अधिकार में पड़ता है। ऐसे सूत्रों को अधिकार-सूत्र कहते हैं जिनसे किसी विषय विशेष के विवेचन की परिधि निरूपित होता है :

कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९। कर्तुः क्रियया आप्तुम् इष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । कर्तुः किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । कर्मण ईप्सिता माषाः न तु कर्तुः । तमब्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा 'गेहं प्रविशती'त्येवमेव स्यात् ।

क्रिया के द्वारा कर्त्ता का जो ईप्सिततम हो उसे कर्मकारक कहते हैं। 'पथिकः पन्थानं पृच्छति' वाक्य में कर्तृपद 'पथिक' का इष्टतम 'पथिन्' है और वह ज्ञात होता है 'पृच्छति' क्रिया के द्वारा। पथिक के पूछने का उद्देश्य है मार्ग। इसलिये 'पथिन्' शब्द में द्वितीया हुई। इसी प्रकार 'पथिकः पुत्रं पृच्छति' वाक्य भी ठीक है। 'अकथितञ्च'[1] सूत्र से √प्रच्छ के द्विकर्मक होने के कारण 'पथिकः पुत्रं पन्थानं पृच्छति' होगा। परन्तु,

१. पाणिनि : १।४।५१।

'पथिक ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थान पृच्छति' में 'ब्राह्मण' शब्द कर्म नहीं हुआ क्योंकि वह क्रियान्वयी नहीं है, क्रिया के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'माषेष्वश्वं बध्नाति' मे 'माष' पद कर्मभूत 'अश्व' का ईप्सित है, न कि कर्त्ता का। दूसरी ओर कर्त्ता का ईप्सिततम 'अश्व' है। अत 'अश्व' पद में कर्मणि द्वितीया हुई। केवल 'कर्तुः ईप्सितम्' कहने से काम नहीं चलता क्या ? नहीं। इसीलिये तो अतिशायनि अर्थ (Superlative sense) में तमप् प्रत्यय लगाया गया है। 'कर्त्ता का ईप्सिततम' ही होना चाहिये क्योंकि यदि कर्त्ता का ईप्सित भी कारक कर्मसंज्ञक होता तो 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' में 'पयस्' शब्द में तृतीया नहीं होती, द्वितीया होती। किन्तु, चूँकि वह ईप्सितमात्र है, इसलिये साधकतम-कारक करण होने के कारण उसमें तृतीया हुई—'ओदन' बनाने की क्रिया में उसके सहायक सहकारी द्रव्य होने के हेतु। भात बनाते समय भात बनाने की इच्छा रखनेवाले तो पानी पीकर नहीं रह जायेंगे। जहाँ 'पयस्' ईप्सिततम होगा वहाँ कर्म में अवश्य द्वितीया होगी, जैसे 'पय पिबति' आदि में।

इस सूत्र के पहले 'अधिशीङ्स्थासां कर्म'[1] सूत्र से ही कर्म की अनुवृत्ति कर लेते तो यहाँ फिर क्यों कर्म का ग्रहण करते हैं ? इसीलिये कि इस सूत्र मे कहीं आधार ही कर्म न हो जाय क्योंकि इस सूत्र में आधार के कर्म होने का प्रसंग है। ऐसी अवस्था में 'गेहं प्रविशति' सिद्ध समझा जायगा जिसकी जगह होना चाहिये 'गेहं प्रविशति' आधार के अर्थ में।

अनभिहिते ।२।३।१। इत्यधिकृत्य ।

कर्म कारक के लिये यह अधिकार सूत्र है। जहाँ भी कर्मसंज्ञा में द्वितीया होगी वहाँ कर्म के 'अनभिहित' या 'अनुक्त' रहने पर ही। 'अनभिहित' या 'अनुक्त' रहने का मतलब है अप्रधान रहना।

कर्मणि द्वितीया ।२।३।२। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् ।

कर्म के अनुक्त रहने पर द्वितीया विभक्ति होती है। कर्म अप्रधान होता

---

१. पाणिनि. १।४।४६।

है कर्तृवाच्य में। 'हरिं भजति' वाक्य में (कोई भी गम्यमान) कर्त्ता प्रधान है जो 'भजन' करता है और 'हरि' अप्रधान है। कर्म है और इसीलिये उसमें द्वितीया होती है।

अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव ॥ अभिधानञ्च प्रायेण तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैः। तिङ्—हरिः सेव्यते। कृत्—लक्ष्म्या सेवितः। तद्धित—शतेन क्रीतः शत्यः। समास—प्राप्त आनन्दो यं (येन वा स) प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानं यथा—विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। 'साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यते इत्यर्थः'।

लेकिन कर्म यदि 'उक्त' या 'अभिहित' हो जाय तो मुख्यता होने पर उसमें 'प्रातिपदिकार्थलिंग—' सूत्र से प्रथमा विभक्ति ही होगी। सामान्यतः कर्म जो कर्तृवाच्य में अनुक्त रहता है, कर्मवाच्य में उक्त हो जाता है। इस अनुक्त से उक्त होने का कर्म की प्रक्रिया को अभिधान कहते हैं। यह चार प्रकार से होता है अर्थात् चार तरह से अनुक्त कर्म उक्त बनाया जा सकता है : (१) तिङ् अर्थात् क्रिया के द्वारा; (२) कृत् प्रत्यय लगाकर; (३) तद्धित प्रत्यय लगाकर और (४) समास के द्वारा। कर्तृवाच्य में 'हरिं सेवते' में 'हरि' अनुक्त है। वही कर्मवाच्य में 'हरिः सेव्यते' हो जाने पर उक्त हो जाता है। यह होता है 'सेवते' क्रिया में कर्मवाच्य के उपयुक्त भेद लाने से। पुनः पूर्ववाक्य होगा—'लक्ष्मीः सेवितवती हरिम्' जिसमें क्रिया में कर्मवाच्य के अनुरूप 'क्तवतु' प्रत्यय के बदले 'क्त' प्रत्यय लगाने पर लक्ष्म्या सेवितः (हरिः)[1] हो जाता है। वृत्तिस्थ उदाहरण में 'लक्ष्म्या सेवितः' में 'सेवित' पद 'हरि' का विशेषण है जो गम्यमान है और जो पहले वाक्य में अनुक्त था—अब उक्त हो गया है। यहाँ 'कृत्' के अन्तर्गत 'क्त' प्रत्यय से अभिधान हुआ। इसी प्रकार 'शतेन क्रीतः = शत्यः' में व्युत्पत्तिभाग में 'शतम्' जो अनुक्त (अप्रधान) है, निष्पत्तिभाग में उक्त (प्रधान) बना दिया गया है तद्धित 'यत्' प्रत्यय के द्वारा। क्रयादि अर्थ में ही 'शत' से

हुआ है, अन्यथा होना चाहिये था 'विपद्वृक्षम्'। यहां 'साम्प्रतम्' का अर्थ है 'युज्यते'। यहां भी स्पष्टीकरण पर सूक्ष्म विचार करने से भान होता है कि

तथा युक्तञ्चानीप्सितम् ।१।४।५०। ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तम् अनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति, ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ।

कर्मवाच्य में ही वस्तुतः अभिधान हुआ है। अतः तिङ्, कृत्, तद्धित, समास और क्वचित् निपात से अभिधान होता है—इसकी जगह यदि हम कहें कि कर्तृवाच्य के कर्म का अभिधान कर्मवाच्य में होता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी और सभी पहलुओं का समावेश भी हो जायगा। लेकिन 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधिसः'[1] में 'नारद' पद का अभिधान कैसे हुआ ? सचमुच यह वाक्य कर्मवाच्य की तरह कर्म भी उचित नहीं हो सकता। ऐसे स्थलों में अतिरिक्त रूप से 'इति' या ऐसे अन्य अवधारणार्थक अव्ययों के द्वारा कर्मपद का अभिधान कहा जा सकता है।

कर्मकारक के लिये आवश्यक है कि उसका योग क्रिया के साथ हो और वह कर्त्ता का ईप्सिततम हो। परन्तु यदि केवल उसका क्रिया से योग हो और वह कर्त्ता का ईप्सिततम नहीं हो, ईप्सित भी नहीं हो बल्कि अनीप्सित हो तब भी उसमें कर्मसंज्ञा हो जायगी। उल्लिखित प्रथम उदाहरण में 'ग्राम' शब्द में कर्म में जो द्वितीया हुई वह ईप्सिततम होने के कारण, इसके विपरीत अनीप्सित होते हुए भी 'तृण' शब्द में कर्मणि द्वितीया हुई। यह इसलिये कि मुख्य क्रिया 'स्पृशति' के साथ इसका भी वैसा ही योग है जैसे 'ग्राम' का जो ईप्सिततम है।

चूँकि इस सूत्र के पहले 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र है इसलिये 'तथा' का अर्थ 'ईप्सिततमवत्' रखना संगत है।

वस्तुतः ऐसे स्थलों में पदों के ईप्सित, ईप्सिततम या अनीप्सित होने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, प्रत्युत मुख्य क्रिया (Finite verb) के द्वारा ईप्सिततम पद के साथ ईप्सित या अनीप्सित पद का एकाधिकरण में

---

१. शिशुपालवधः १।३

योग ही महत्त्व का है। अतः मुख्य क्रिया के साथ ईप्सिततम ईप्सित या अनीप्सित पद का एकाधिकरणत्व का सम्बन्ध ही आवश्यक है। यदि ऐसी स्थिति रहे तो ईप्सिततम पद के कर्मत्व के साथ दूसरे पद की भी कर्म संज्ञा होगी। इससे भी आगे सूक्ष्म विचार करने पर देखा जायगा कि 'ग्राम' और 'तृण' में एकाधिकरणत्व रहते हुए भी 'गमन' और 'स्पर्शन' क्रियाओं में भेद है। 'गमन' में 'स्पर्शन' समाविष्ट है लेकिन 'स्पर्शन' में 'गमन' नहीं। वस्तुतः 'गमन' क्रिया का ईप्सिततम 'ग्राम' और 'स्पर्शन' क्रिया का 'तृण' होता पड़ता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में कोई आवश्यक नहीं है कि 'ओदन' और 'विष' दोनों साथ-साथ और एक ही समय में (Simultaneously) खाये जाय। यह व्याख्या शब्द की दृष्टि से (व्याकरण से) संगत होती है। अर्थ की दृष्टि से (न्याय से) तो पृथग्गत अनीप्सितत्व रहता ही है।

पुन 'इष्ट' और 'वाञ्छनीय' में अन्तर है। 'इष्ट' तो वाञ्छनीय' होता ही है, अवाञ्छनीय भी कभी परिस्थितिवशात् 'इष्ट' हो जाता है। यदि कोई ऊब कर जानबूझकर विष खाता है तो विष अवाञ्छनीय होते हुए भी इष्ट या ईप्सित कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में विष को अनीप्सित कहना गलत होगा, तभी तो 'विषं भुङ्क्ते' ऐसे प्रयोग सम्भव होते हैं।

अकथितञ्च ।१।४।५१। अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण आदि कारकों से जो अकथित (अर्थात् नहीं कहा गया) हो वह भी कर्मसंज्ञक होता है। दूसरे शब्दों में, अपादान आदि कोई खास कारक नहीं कहा जाय तो उसके स्थान में कर्मकारक हो सकता है। लेकिन सभी धातुओं से ऐसा नहीं होता।

दुह्याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् । कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥ दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद् युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः । गां दोग्धि

पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा।

केवल दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मन्थ्, मुष् तथा नी, हृ, कृष् तथा वह् धातुओं के योग में अकथित कर्म संभव है। इनके योग में यदि प्रसंग के अनुसार अपादानादि कारक प्राप्त हों परन्तु उनके स्थान पर हम कर्मकारक का प्रयोग करें तो वही अकथित कर्म होगा। 'गोः दोग्धि पयः, में 'गोः' जो अपादान में पंचमी है उसके स्थान में हम कर्म में द्वितीया रख सकते हैं और जिस प्रकार 'गोः दोग्धि पयः' शुद्ध होगा उसी प्रकार 'गां दोग्धि पयः' भी। प्रत्येक उदाहरण का प्रयोगान्तर यों होगा – (पृष्ठ ८ पर देखें)।

(गौण अर्थ में) कर्म होने के पूर्व ऊपर कई जगह अर्थ की विवक्षा के अनुसार भिन्न-भिन्न कारक हुए हैं। जब ऐसा अर्थ रहेगा कि 'तण्डुल' 'ओदन' के बनने में साधकतम होता है तो 'तण्डुलैः ओदनं पचति' और जब अर्थ होगा कि 'तण्डुल' से उबालने पर 'ओदन' बनता है तो 'तण्डुलेभ्यः ओदनं पचति' होगा। इसी तरह जब 'माणवक' से रास्ता पूछा जायगा तो 'माणवक' में करणे तृतीया, अन्यथा अपादान में पञ्चमी हो सकती है। जब, दूसरी तरफ, 'माणवक' स्वयं रास्ता नहीं पूछ सकता हो और उसके बदले उसी के लिये रास्ता पूछा जाय तो 'माणवक' पद में सम्प्रदान कारक भी हो सकता है। पुनः प्रथम उदाहरण में जैसे 'गां पयः दोग्धि' होगा। अपादान में स्थित 'गोः पयः दोग्धि' के स्थान में वैसे ही 'गोः' में षष्ठी समझने पर भी उसके स्थान में हो सकता है। यद्यपि सम्बन्ध कारक नहीं है तो भी इसे हम समाविष्ट कर ले सकते हैं क्योंकि 'अपादानादिविशेषैः—इस कथन में तो कारकत्व का

गो: दोग्धि पयः	(अपादान से कर्म)	गां (गौण कर्म)	दोग्धि पयः (मुख्य कर्म)
बलेः याचते वसुधाम्	,, ,,	बलिं ,,	याचते वसुधाम् ,,
अविनीतात् ,, विनयम्	,, ,,	अविनीत ,,	,, विनयम् ,,
तण्डुलेभ्यः पचति ओदनम्	,, ,,	तण्डुलान् ,,	पचति ओदनम् ,,
अथवा, तण्डुलैः ,, ,,	(करण से कर्म)	,, ,,	,, ,, ,,
गर्गेभ्यः दण्डयति शतम्	(अपादान से कर्म)	गर्गान् ,,	दण्डयति शतम् ,,
,, ,, ,, ,,	(सम्प्रदान से कर्म)	,, ,,	,, ,, ,,
व्रजे अवरुणद्धि गाम्	(अधिकरण से कर्म)	व्रजम् ,,	अवरुणद्धि गाम् ,,
माणवकाय पृच्छति पन्थानम्	(सम्प्रदान से कर्म)	माणवक ,,	पृच्छति पन्थानम् ,,
,, माणवकात् ,, ,,	(अपादान से कर्म)	,, ,,	,, ,, ,,
वृक्षात् अवचिनोति फलानि	,, ,,	वृक्षम् ,,	अवचिनोति फलानि ,,
माणवकाय ब्रूते शास्ति वा धर्मम्	(सम्प्रदान से कर्म)	माणवकं ,,	ब्रूते शास्ति वा धर्मम् ,,
देवदत्तात् जयति शतम्	(अपादान से कर्म)	देवदत्त ,,	जयति शतम् ,,
क्षीरनिधेः मथ्नाति सुधाम्	(,, ,,)	क्षीरनिधिं ,,	मथ्नाति सुधाम् ,,
देवदत्तात् मुष्णाति शतम्	(,, ,,)	देवदत्तं ,,	मुष्णाति शतम् ,,
ग्रामाय नयति अजाम्	(सम्प्रदान से कर्म)	ग्रामं ,,	नयति अजाम् ,,
,, ग्रामात् हरति ,,	(अपादान से कर्म)	,, ,,	हरति ,, ,,
,, कर्षति ,,	(,, ,,)	,, ,,	कर्षति ,, ,,
,, वहति ,,	(,, ,,)	,, ,,	वहति ,, ,,

प्रतिबन्ध स्पष्ट नहीं है। इस शर्त में जिस प्रकार 'करण' के समकक्ष 'हेतु' का समावेश हो सकता है वैसे ही सम्बन्ध का समावेश भी समीचीन है।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि। कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति।

दुह् आदि बारह और नी आदि चार धातुओं के ही योग रहने पर अकथित संज्ञा नहीं होगी, बल्कि इन धातुओं के अर्थवाले दूसरे धातुओं के योग में भी। वस्तुतः अकथित संज्ञा इन धातुओं के अर्थ पर निर्भर है। अतः जिस प्रकार 'बलेः याचते वसुधाम्' का 'बलिं याचते वसुधाम्' होगा उसी प्रकार 'बलेः भिक्षते वसुधाम्' का भी क्योंकि √याच् और √भिक्ष् दोनों ही एकार्थक (Synonymous) हैं। इसी प्रकार √ब्रू, √भाष्, √वच्, √अभि=धा आदि सभी समानार्थक हैं।

लेकिन ऊपर बताये गये 'सम्बन्ध' का समावेश तभी हो सकता है जब षष्ठी विभक्ति के साथ-साथ किसी कारक में भी दूसरी विभक्ति होने की संभावना रहे। 'गोः पयः दोग्धि' में 'गोः' में षष्ठी कही जा सकती है और आपादान में पंचमी भी। इसलिये यदि यहां वस्तुतः षष्ठी के स्थान में भी कर्म करें तो उसका महत्त्व नहीं रह जाता है क्योंकि सम्बन्ध की षष्ठी विभक्ति के स्थान में स्वतंत्र रूप से अकथित होने पर कर्मसंज्ञा नहीं हो सकती है। अतः किसी न किसी कारक के नहीं कहे जाने पर ही गौणरूप से कर्म संभव है। 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' में 'माणवक' पद में जो षष्ठी है सम्बन्ध में, उसके स्थान में कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा करने पर अर्थ में सन्देह उपस्थित हो जाता है। 'माणवकं पितरं पन्थानं पृच्छति' में 'माणवक' पद में जो षष्ठी है सम्बन्ध में उसके स्थान में कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने पर अर्थ में सन्देह उपस्थित हो जाता है। 'माणवकं पितरं पन्थानं पृच्छति' यदि हो तो 'माणवक' और 'पिता' में सम्बन्ध का मूल अर्थ स्पष्ट नहीं होता। लेकिन प्रयोग ऐसा हो सकता है और उसका अर्थ होगा— 'माणवक से, (और) पिता से रास्ता पूछता है।

यहां जितने धातु गिनाये गये हैं जिनके योग में अकथित कर्म होता है, वे सभी द्विकर्मक हैं। अतः समझना होगा कि अकर्मक धातु से तो अकथित-कर्म नहीं ही संभव है, सभी सकर्मक से भी नहीं—उनमें भी द्विकर्मक धातुओं के साथ ही। दुह् आदि बारह और उनके अर्थवाले दूसरे धातु तथा नी आदि चार और उनके समानार्थक अन्य धातु। किन्तु जब अकथित संज्ञा अर्थ के अनुसार होती है तो अलग अलग √नी, √हृ √कृष् और √वह् गिनाने की क्या आवश्यकता थी? प्राय: इनके कुछ भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयोग पर भी अकथित संज्ञा हो सकती है। फिर, दूसरा प्रश्न यह उठता है कि उपसर्ग के साथ रहने से इन धातुओं के योग में क्या होगा? किसी कारक के अकथित होने पर कर्म होगा या नहीं? वस्तुतः इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, अत समझना होगा कि उपसर्गयुक्त रहने पर भी पूर्ववत् अकथित संज्ञा होगी। ऊपर बताये गये उदाहरण से भासित कर दिया गया है कि √दुह् आदि द्विकर्मक के योग में जो दो कर्म होंगे उनमें एक मुख्य होगा और दूसरा गौण। जो कर्म अकथितकर्म के पूर्व से ही स्थित हो और जो उस अवस्था में सतत कर्म ही रहे उसे मुख्य कर्म और अकथितकर्म (अर्थात अपादानादि कारक) के स्थान में आये हुए कर्म को गौणकर्म कहते हैं क्योंकि एक तो इसकी स्थिति शाश्वत नहीं रहती है और दूसरी बात, इसके बदले हम इष्ट अन्य कारक का भी समुचित प्रयोग कर सकते हैं।

अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालः भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोह-मास्ते। क्रोशमास्ते।

द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग से संस्कृतभाषा के प्रयोग का विस्तार मालूम पड़ता है। इतना ही नहीं। कुछ परिगणित द्विकर्मक धातुओं से अपादान आदि कारकों के स्थान में कर्म भी हो सकता है। यह प्रयोग का प्राचुर्य अकर्मक धातु के साथ कर्मत्व की संभावना से और भी अधिक दीख पड़ता है। किसी भी अकर्मक धातु (Intransituve verb) के योग में देशवाची, कालवाची, भाववाची (अर्थात् क्रियावाची) तथा गन्तव्यमार्गवाची शब्द

कर्मसंज्ञक होंगे। किसी प्राचीन वैयाकरण ने 'देश' से खाली 'स्थान' का ग्रहण किया और उदाहरण दिया 'नदीमास्ते'। परन्तु यह असंगत है। 'देश' के अन्तर्गत ग्रामसमूह, कुरु आदि देश ही समझे जायेंगे, कोई प्रदेश या ग्राम भी नहीं। इसी आधार पर भाष्यकार ने 'ग्रामं स्वपिति' को अशुद्ध बतलाया है[1]। सामान्यतः √स्वप् के अकर्मक होने के कारण 'कुरुषु स्वपिति' ही प्रयोग होता किन्तु, इस वार्तिक के अनुसार हम इसकी जगह 'कुरून् स्वपिति' प्रयोग कर सकते हैं। कालवाचक शब्दों में 'मास' आदि विशेष निर्धारित कालवाची शब्दों का ही समावेश होगा। इसका मतलब यही है कि 'गोदोहमास्ते' ऐसे प्रयोग में भाववाची शब्दों के कर्मसंज्ञकत्व में 'गोदोहकाल' का बोध होने पर भी इसको कालवाची का उदाहरण नहीं समझा जाय। गोदोहः गोदोहनम्। भावे घञ्। भावो धात्वर्थः। अतः 'गोदोहमास्ते' का अर्थ है—'जब तक गाय दूही जाती है तब तक बैठता है'। गाय का दूहना ही यहां भाव (क्रिया) है जो √दुह् में भावार्थक घञ् प्रत्यय से व्यक्त है। किन्तु 'मासमास्ते' का अर्थ है—'मासभर बैठता है'। इसी प्रकार गन्तव्य मार्गवाची से यहां मतलब है वह शब्द जो मार्ग का परिच्छेदक (नियतपरिमाणक) हो जाने वाला मार्ग या गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग इसका अर्थ नहीं है। अतः इससे मार्ग के निश्चितपरिमाण 'क्रोश' आदि शब्द ही समझे जायेंगे। 'क्रोशमास्ते' का अर्थ है 'कोस भर (चलते-चलते) बैठता है'।

इस वार्त्तिक का भाव एक प्राचीन कारिका[2] में भी मिलता है लेकिन इसमें पूर्ण स्पष्टता नहीं है। विशेषतः गन्तव्यत्वेन यह मार्गवाची शब्द 'क्रोश' आदि हो यह नहीं सूचित होता है। अन्यत्र कई स्थल की तरह यहां भी किसी तरह अर्थ का प्रक्षेप कर सकते हैं। किन्तु इससे एक नवीन दृष्टिकोण मिलता है। वह यह कि अकर्मक धातुओं के योग में जहां कर्म होगा वहां एक क्रिया अन्तर्भूत (गम्यमान) समझी जायगी। 'कुरून् स्वपिति' से 'कुरून् आगत्य

---

१. महाभाष्यम् : १।४।२ : तेन ग्रामसमूहः कुर्वादिरेव देशो गृह्यते, न तु प्रदेशमात्रं, तेन ग्रामं स्वपितीति न भवति।

२. कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः।
सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते॥

स्वपिति' समझा जायगा। यदि अकर्मक धातु के साथ कर्मसंज्ञा का विधान करने में नियम में आपाततः कोई क्षति दीख पड़े तो इसे हम कर्मत्व की कथञ्चित् व्याख्या का प्रकार मान सकते हैं।

वस्तुतः यह वार्तिक महाभाष्य में उल्लिखित नहीं है। किन्तु, अकर्मक धातु द्विकर्मक कैसे होते हैं यह शंका उठने पर एक कारिका[1] के रूप में वहाँ वचन उपलब्ध है जो वार्तिक के भाव को ही अनूदित करता है और पूर्वगत कारिका से मिलता-जुलता है। 'कुरून् स्वपिति' का अर्थ है—'स्वापादिक्रियया कुरून् व्याप्नोति'। जब कर्ता क्रिया के द्वारा व्याप्त करना चाहे जो जिसे वह व्याप्त करता है वह 'आप्तुम् इष्टतमः' = ईप्सिततम होता है और तब 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से उसमें कर्म संज्ञा होती है। विवक्षानुसार धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। जब √स्वप् का अर्थ केवल सोना होगा और वहाँ व्याप्ति का गृहीत अर्थ नहीं लिया जायगा तो सर्वत्र अधिकरण ही होगा जैसे कुरुषु स्वपिति, मासे आस्ते आदि। ये सब 'अकथितञ्च' और 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्रों के स्पष्टीकरण के प्रसंग में भाष्य में आये हैं। इसी क्रम में 'समांसमां विजायते' का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने किया है—'समायां समायां विजायते' 'समा', 'हिमा' आदि का अर्थ है 'वर्ष'। प्रथम प्रयोग में 'विजननादिक्रियया समां व्याप्नोति' ऐसा अर्थ रहने पर 'समा' शब्द में कर्म में द्वितीया हुई; व्याप्ति का अभाव समझे जाने पर अधिकरण में सप्तमी हुई। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'कुरुषु' में जो अधिकरण है उसको अकथित करके (अर्थात् नहीं कहकर) उसके स्थान में कर्म-संज्ञा हुई। तब 'कुरून् स्वपिति' हुआ। 'अकथितञ्च' सूत्र के प्रसंग में जैसा बतलाया गया है, केवल परिगणित दुह आदि द्विकर्मक के योग में ही अपादानादि कारक के अकथित करने में कर्मसंज्ञा होती है, अकर्मक के योग में कभी नहीं लेकिन उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यहाँ हम अकर्मक के साथ भी कदाचित् कर्मसंज्ञा को संभव बना लेते हैं।

कालवाची और अध्ववाची शब्दों में तो अत्यन्तसंयोग में केवल द्वितीया

---

१. कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्।
देशश्च .... ॥—महाभाष्यम् १।४।५१

होगी, किन्तु इनसे इस वार्तिक के अनुसार अकर्मक धातु के योग में अत्यन्त संयोग के निरपेक्ष रहते पहले कर्मसंज्ञा होगी, तब द्वितीया होगी। इसी प्रकार कालाध्वनोः—सूत्र में अकर्मक धातु का प्रयोग हो या सकर्मक का कालवाची और मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति के लिए अत्यन्त संयोग आवश्यक है।

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ ।१।४।५२। गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणां चाऽणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात् ।

शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम् ।
आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥

गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ।

गत्यर्थक, बुद्धयर्थक, प्रत्यवसानार्थक (भोजनार्थक), शब्द-कर्मक तथा अकर्मक धातुओं के णिच् प्रेरणार्थक प्रत्यय के लगने के पूर्व के कर्ता णिच् लगने के पश्चात् कर्म हो जाते हैं। इनमें शब्दकर्मक का अर्थ है ऐसे धातु जिनके उच्चारण प्रतिरूपी शब्द कर्मकारक में स्थित हों। कर्म का अर्थ कहीं-कहीं क्रिया भी होता है, अतः इस दृष्टि से 'शब्दकर्मक' का अर्थ होगा ऐसे धातु जिनमें शब्द की क्रिया हो'। प्रत्येक का उदाहरण वृत्ति में उद्धृत श्लोक में ही है, जैसे—

णिच् के पूर्व	प्रेरक	णिच् के पश्चात्
शत्रवः अगच्छन् स्वर्गम्—	हरिः—	शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्
वेदार्थं स्वे अविदुः—	,, —	वेदार्थं स्वान् अवेदयत्
आश्नन् चामृतं देवाः—	,, —	आशयत् चामृतं देवान्

१. इस सूत्र के अर्थ को निम्न कारिका भी व्यक्त करती है :-

गमनाहारबोधार्थ शब्दार्थाकर्मधातुषु ।
अणिजन्तेषु यः कर्त्ता स्याण्णिजन्तेषु कर्म तत् ॥

वेदम् अध्यैत विधि -- ,, -- वेदमध्यापयद् विधिम्
आस्त सलिले पृथ्वी -- ,, -- आसयत् सलिले पृथ्वीम्

इस सूत्र के अनुसार ऐसे धातुओं के लिये द्विकर्मकत्व का विधान किया जाता है जो वस्तुतः द्विकर्मक नहीं हैं, परन्तु, जो किसी विशेष अवस्था में (अर्थात् प्रेरणार्थक हो जाने पर) द्विकर्मक हो जाते हैं। यद्यपि केवल चार पाँच प्रकार के ऐसे धातु गिनाये गये हैं, तथापि इनमें बहुत से धातुओं का समावेश हो जाता है क्योंकि ये ही धातु व्यवहार में अधिकतर आते हैं। इनमें सकर्मक में गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक और शब्दकर्मक रक्खे गये हैं, अतिरिक्त दूसरे-दूसरे अर्थ वाले धातु छोड़ दिये गये हैं। अकर्मक धातु सब के सब बिना किसी काट-छाँट के ले लिये गये हैं। इनके योग से णिच् के पूर्व जो कर्म रहता है वह पश्चात् भी कर्म रहता है। अपनी सतत उपस्थिति के कारण वह मुख्य या प्रधान कर्म कहलायगा। परन्तु णिच् के पूर्व जो कर्त्ता रहता है (जिसे प्रयोज्यकर्त्ता कहते हैं) वह णिच् के उपरान्त कर्म हो जाता है। अपनी अनियमित उपस्थिति के कारण वह गौण (अप्रधान) कर्म कहलायगा। यह स्मरणीय है कि णिच् धातु में लगाया जाता है। पूर्व वाक्य में जो क्रियापद रहेगा उसी के धातु में यह प्रत्यय लगाया जायगा और इस प्रत्यय के लगते ही पूर्वकर्त्ता कर्म हो जायगा। अपने पूर्वस्थ लिंग-वचन में। पूर्ववाक्य के कर्म की स्थिति वैसी ही रहेगी किन्तु क्रिया का पुरुष-वचन होगा नवीन कर्त्ता (प्रेरक या प्रयोजक) के पुरुष-वचन के अनुसार।

ऊपर के उदाहरण में √गम् गत्यर्थक, √विद् बुद्ध्यर्थक, √अश् प्रत्यवसानार्थक, √अधि + इङ् शब्दकर्मक और √आस् अकर्मक हैं। लेकिन केवल इन्हीं अर्थ वाले धातुओं के साथ ऐसा कर्मत्व संभव है। इसी लिये 'पाचयत्योदनं देवदत्तेन' में 'देवदत्त' पद का णिच् के पूर्व का कर्त्ता रहने पर भी णिच् का परिगणित धातुओं में समावेश नहीं होने से कर्मत्व नहीं हुआ; इसकी प्रस्तुत अनुच्छेद में सूचना हुई। दूसरी आवश्यक बात यह है कि पूर्वावस्था में धातु में प्रेरणार्थक प्रत्यय नहीं लगा रहे। यदि पूर्व वाक्य में णिच् लगा हुआ है तो पश्चाद्वाक्य में णिच् रहने पर भी प्रयोज्यकर्त्ता में कर्मत्व नहीं होता। 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्' वाक्य प्रेरणार्थक है जिसमें गमन

क्रिया का प्रेरक है 'देवदत्त'। यदि वाक्य में फिर 'देवदत्त' का भी प्रेरक विष्णुमित्र रक्खें तो पूर्ववाक्य के कर्त्ता 'देवदत्त' में कर्मत्व नहीं होगा।

नीवह्योर्न। नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन।

किन्तु गत्यर्थक रहते हुए भी √नी और √वह् के णिच् के पूर्व का कर्त्ता णिच् के पश्चात् कर्म नहीं होगा। 'भृत्यः भारं वहति' या 'भृत्यः भारं नयति' से प्रेरणार्थक करने पर '(स्वामी) भृत्येन भारं वाहयति' या '(स्वामी) भृत्येन भारं नाययति' होगा। ऐसे स्थल में सर्वत्र कर्मत्व नहीं होने से अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया होती है।

नियन्तृकर्त्तृकस्य वहेरनिषेधः। वाहयति रथं वाहान् सूतः।

लेकिन जिस √वह् का कर्त्ता (√णिच् लगने के बाद का कर्त्ता) नियन्ता हो उस √वह् के पूर्वकर्त्ता के कर्मत्व का निषेध नहीं होगा; अतः मूल सूत्र के अनुसार ही पूर्व कर्त्ता णिजन्तावस्था में कर्म हो जायगा। 'वाहाः रथं वहन्ति' से प्रेरणार्थक प्रत्यय लगाने पर 'सूतः वाहान् रथं वाहयति' होगा अन्यथा अपवाद नियम के अनुसार 'सूतः वाहैः रथं वाहयति' होता। यह अपवाद का भी अपवाद है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि चूँकि √वह् द्विकर्मक है इसलिये णिजन्तावस्था में 'सूतः ग्रामं रथं वाहान् वाहयति' ऐसी स्थिति में तीन कर्म हो जायेंगे।

इस वार्तिक में नियन्ता का अर्थ कोई भी 'पशुप्रेरक' है केवल सारथि नहीं। इसी आधार पर भाष्य का 'वाहयति बलीवर्दान् यवान्' यह उदाहरण साध्यसिद्ध है क्योंकि इसका पूर्ववाक्य होगा—'वहन्ति बलीवर्दाः यवान्' और प्रयोजक होगा 'शकटवाहकः'। यहाँ 'रूढ़िर्योगमपहरति' का न्याय स्वीकार के योग्य नहीं माना जाता क्योंकि 'नियन्ता' का रूढ़ार्थ तो 'सारथि' ही है।

आदिखाद्योर्न। आदयति खादयति वा अन्नं वटुना।

यह प्रत्यवसानार्थक का अपवाद है। √अद् और √खाद् के णिच् के पूर्व का कर्त्ता णिजन्तावस्था में कर्म नहीं होगा। 'वटुः अन्नं खादति' या 'वटुः अन्नम् अत्ति' से क्रमशः 'वटुना अन्नं खादयति तथा' 'वटुना अन्नम् आदयति' होगा। अन्यथा णिच् के बाद दोनों उदाहरणों में 'वटुना' की जगह 'वटुम्' होता।

भक्षेरहिंसार्थस्य न। भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलीवर्दान् शस्यम्।

√भक्ष् भी हिंसार्थक होने पर पूर्ववत् अपवाद होगा। इस का भी प्रयोज्यकर्ता प्रेरणा में कर्म नहीं होता। 'बटु अन्नं भक्षयति' में 'बटुना अन्नं भक्षयति'। परन्तु, √भक्ष् का अर्थ जब हिंसात्मक होता है—खा लेना, नष्ट कर देना, बरबाद कर देना आदि—तब प्रयोज्यकर्ता कर्मत्व को अंगीकार करता है। 'बलीवर्दाः शस्यं भक्षयन्ति' से 'बलीवर्दान् शस्यं भक्षयति वाहीकः'। √भक्ष के चुरादिगणीय रहने के कारण यहाँ आपाततः वैसा कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता जैसा अर्थगत अन्तर है। पूर्व उदाहरण में √भक्ष् हिंसा का अर्थ नहीं रखता है। 'लड़का अन्न खाता है' ऐसा कहने से अन्न की हिंसा नहीं होती, लेकिन बादवाले उदाहरण में 'बैल फसल खा जाते हैं' ऐसा कहने में फसल की हिंसा (नुकसानी) व्यक्त होती है।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।

'बोलना' अर्थवाले √जल्प् आदि का भी ग्रहण प्रयोज्यकर्ता के कर्मत्व के प्रसंग में शब्दकर्मक धातुओं के साथ साथ कर लिया जाय। शब्दकर्मत्व और शब्दक्रियात्व में अन्तर है। इस वार्तिक से ज्ञापित होता है कि मूलसूत्र के 'शब्दकर्म' में 'कर्म' का अर्थ 'क्रिया' नहीं बल्कि 'कर्मकारक' है। यदि इस सूत्र के प्रसंग में शब्दकर्मत्व का अर्थ शब्दक्रियात्व रहता तो अलग यह वार्तिक नहीं बनाया जाता। यहाँ उदाहरण में 'पुत्रः धर्मं जल्पति' और 'पुत्र धर्मं भाषते' से क्रमशः 'देवदत्तः (प्रेरक) पुत्रं धर्मं जल्पयति' और 'देवदत्त (प्रेरक) पुत्रं धर्मं भाषयति' होगा। मूल सूत्र में 'वेदमध्यापयद् विधिम्' में जैसा शब्द कर्म (या शब्द समूह) 'वेद' है वैसा प्रस्तुत उदाहरण में 'धर्म' नहीं है। यह न शब्दात्मक है और न शब्दमय। 'शब्द' के 'नाद' और 'पद' दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। यहाँ धर्म 'कर्म' है परन्तु 'शब्द' 'कर्म' नहीं। अतः णिच् के पूर्व के कर्ता का जो कर्मत्व हुआ वह केवल √जल्प्, √भाष् आदि के योग के कारण ही प्रस्तुत वार्तिक के बल पर।

दृशेश्च । दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरतिजिघ्रतिप्रभृतीनां न । स्मारयति घ्रापयति देवदत्तेन ।

मूल सूत्र में केवल बुद्धयर्थक धातुओं का समावेश किया गया है। √'दृश् बुद्धयर्थक नहीं है परन्तु 'देखना' क्रिया से एक विशेष प्रकार का ज्ञान होता है। √दृश् का भी समावेश इस वार्तिक के अनुसार कर लिया जाय, जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्' से यहाँ 'उपसंख्यानम्' की अनुवृत्ति हुई। इसके अनुसार √दृश् के णिच् के पूर्व का कर्त्ता णिजन्तावस्था के बाद कर्म हो जाता है। 'भक्ताः हरिं पश्यन्ति' से होगा '(भक्तिः) भक्तान् हरिं दर्शयति'। यदि सामान्य प्रकार के 'ज्ञान' अर्थवाले धातुओं के अतिरिक्त विशेष प्रकार के ज्ञान' अर्थवाले धातुओं का भी समावेश हो गया रहता तो यह वार्तिक अलग करना आवश्यक नहीं होता। इससे ज्ञापित होता है कि ज्ञान सामान्यार्थक धातुओं का ही वहाँ ग्रहण हुआ है; ज्ञानविशेषार्थक में केवल यहाँ √दृश् को लेंगे। अतः ऐसे दूसरे धातु के पूर्ववाक्य का कर्त्ता पश्चात् प्रेरणार्थक अवस्था में कर्म नहीं होगा जिनका अर्थ विशेष-विशेष प्रकार का 'ज्ञान' कराना है। 'स्मरण' करके भी जाना जाता है और सूंघकर भी किसी गुण-धर्म का ज्ञान होता है परन्तु √स्मृ और √घ्रा के पूर्वकर्त्ता कर्म नहीं होंगे। 'देवदत्तः स्मरति' और 'देवदत्तः जिघ्रति' से क्रमशः' '(यज्ञदत्तः) देवदत्तेन स्मारयति' और '(यज्ञदत्तः) देवदत्तेन घ्रापयति' होगा।

शब्दायतेर्न । शब्दाययति देवदत्तेन । धात्वर्थसङ्गृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः । येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः, न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव, 'देवदत्तेन पाचयती' त्यादौ तु न ।

'शब्द' से क्यङ् (नाम धातु) प्रत्यय करने पर 'शब्दायते' निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—'शब्दं करोति'। अतः शब्दाय् के अर्थ में ही कर्म

संगृहीत हो जाने से इसके आपाततः अकर्मक होने के कारण प्रयोज्यकर्त्ता के कर्मत्व की संभावना थी, इस वार्तिक के द्वारा उसका निषेध हुआ। इसलिये 'देवदत्तः शब्दायते' से '(यज्ञदत्तः) देवदत्तेन शब्दाययति' होगा। 'शब्दायते' के अर्थ 'शब्दं करोति' में जो कर्मभूत पद है 'शब्दम्' उसके अतिरिक्त बाहर से इसका कोई कर्म संभव नहीं है। इसके विपरीत, सकर्मक धातु के योग में धातु के अर्थ से बाहर भी कर्म संभव होता है।[1]

अकर्मक धातु के योग में भी तो देशवाची, कालवाची, भाववाची और गन्तव्य अध्ववाची शब्द कर्म होते हैं। अतः इस प्रसंग में देशवाची, कालवाची, भाववाची एवं गन्तव्य मार्गवाची में प्राप्ति होने के अतिरिक्त यदि अन्यत्र किन्हीं अकर्मक धातुओं के योग में भी कर्मत्व की प्राप्ति नहीं हो तो वे अकर्मक धातु ही वस्तुतः अकर्मक कहे जा सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि इनमें वे धातु भी आ गये जिनके कर्म तो होते हैं किन्तु उनकी केवल विवक्षा नहीं की गयी होती है। ऐसी अवस्था में संभव कर्म को भी हम अपनी इच्छा से गम्यमान रख देते हैं। अतः 'मासम् आसयति देवदत्तम्' में प्रयोज्यकर्त्ता कर्म होता है। इसका पूर्ववाक्य होगा—'मासम् आस्ते देवदत्तः'। यहाँ अकर्मक √आस् का कर्म है भी तो केवल कालवाची 'मास' शब्द और इसके अतिरिक्त इसका कोई कर्म संभव नहीं होता है। लेकिन 'देवदत्तः पचति' में 'ओदन' आदि कर्म हो सकता है जो गम्यमान रखा गया है, इसी लिये पच् को यहाँ अकर्मक नहीं माना जा सकता, तथा कर्म की स्पष्ट विवक्षा नहीं होने पर भी णिच् के उपरान्त इस वाक्य का कर्त्ता कर्म नहीं होगा। इस अवस्था में '(यज्ञदत्तः) देवदत्तेन पाचयति' होगा। कर्म की विवक्षा होने पर भी '(यज्ञदत्तः) देवदत्तेन ओदनं पाचयति' ही होगा।

हृक्रोरन्यतरस्याम् ।१।४।५३। हृक्रोरणौ यः कर्त्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् ।

√हृ और √कृ के णिच् के पहले के कर्त्ता णिच् के बाद विकल्प से कर्म होंगे। 'भृत्यः कटं करोति' और 'भृत्यः कटं हरति' में क्रमशः होंगे '(स्वामी)

१. धात्वर्थबहिर्भूतकर्मत्वमेव सकर्मकत्वम्—महाभाष्यम् : १।४।३।

भृत्यं कटं कारयति' और '(स्वामी)' भृत्येन कटं कारयति तथा '(स्वामी) भृत्यं कटं हारयति' और '(स्वामी) भृत्येन कटं हारयति।' मालिक नौकर से कट बनवाता है, ऐसे वाक्य में यदि नौकर का कट बनने की क्रिया में ईप्सित-तमत्व समझा जायगा तब कर्मत्व रहेगा अन्यथा यदि वह 'द्वारा' मात्र समझा जायगा तो 'भृत्य' का करणत्व होगा और उसमें तृतीया होगी। पूर्ववत् अनुक्त कर्तृत्व में भी तृतीया कही जा सकती है। फलतः णिजन्त √हृ और कृ √विकल्प से द्विकर्मक होंगे।

√हृ और √कृ का समावेश मूल सूत्र 'गतिबुद्धि प्रत्यवसानार्थ'—में नहीं था, अतः प्रयोज्य कर्तृपद कर्म नहीं होगा। पर चूँकि व्यवहार में विभाषा से कर्मत्व होता है इस लिये अलग सूत्र बनाना पड़ा। उपसर्गयुक्त √हृ और √कृ के अर्थ बदल जाने पर भी विभाषा लगेगी। इसी लिये तो 'अभ्यवहार-यति सैन्धवान्' या 'अभ्यवहारयति सैन्धवैः' और 'विकारयति सैन्धवान्' या 'विकारयति सैन्धवैः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इनके पूर्व वाक्य क्रमशः होंगे—'अभ्यवहरन्ति सैन्धवाः' और 'विकुर्वन्ति सैन्धवाः'। अभि और अव पूर्वक √हृ का अर्थ 'प्रत्यवसान' होने के कारण उपर्युक्त मूल सूत्र से जो कर्मत्व नित्य प्राप्त था उसका विकल्प विधान हुआ। पुनः विपूर्वक √कृ के अकर्मक होने के कारण उसी सूत्र से सर्वथा कर्मत्व प्राप्त होने पर इस सूत्र से विभाषा हुई।

अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

अभिपूर्वक √वद् और √दृश् के प्रयोज्यकर्त्ता इन धातुओं की णिजन्ता-वस्था में आत्मनेपदीय होने पर ही विकल्प से कर्म होंगे। 'अभिवदति देवं भक्तः' से 'अभिवादयते देवं भक्तेन' और 'अभिवादयते दे भक्तम्' तथा 'पश्यति देवं भक्तः' से 'दर्शयते देवं भक्तेन' और 'दर्शयते देवं भक्तम्' होंगे। पूर्व सूत्र की व्याख्या के अनुकूल ही ईप्सिततमत्व की विवक्षा होने पर कर्म में द्वितीया, अन्यथा करणत्व की विवक्षा करने पर तृतीया हो सकती है।

अभिपूर्वक √वद् के कर्मत्व का विधान नवीन हुआ है यद्यपि विभाषा से ही 'दृशेश्च' से √दृश् के प्रयोज्यकर्त्ता का कर्मत्व नित्य प्राप्त था, आत्मने-पद में उसका विकल्प हुआ। इससे समझना होगा कि 'दृशेश्च' में केवल

णिजन्त परस्मैपदीय √वद् का ही ग्रहण होगा। इसलिये परस्मैपद में अभि-पूर्वक √वद् और √दृश् से क्रमशः 'अभिवादयति देवं भक्तेन' और 'दर्शयति देवं भक्तम्' ये एक-एक रूप ही होंगे।

अधिशीङ्स्थासां कर्म ।१।४।४६। अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।

अधिपूर्वक √शी, स्था और √आस् के आधार कर्मसंज्ञक होते हैं जैसे 'हरि वैकुण्ठम् अधिशेते' 'हरि वैकुण्ठम् अधितिष्ठति' और 'हरि वैकुण्ठम् अध्यास्ते'। बिना इन अधि उपसर्ग के हरिः वैकुण्ठे शेते', 'हरिः वैकुण्ठे तिष्ठति' तथा 'हरि वैकुण्ठे आस्ते' होगा। 'आधारोऽधिकरणम्'[1] सूत्र में जो 'आधार' अधिकरण बतलाया गया है उसी के अपवाद स्वरूप यह कर्मसंज्ञा होती है। इसी सूत्र से यहाँ 'आधारः' की अनुवृत्ति भी होती है जो 'उपान्वध्याङ्वसः'[2] सूत्र तक चलती है। उक्त सूत्र तक 'कर्म' की अनुवृत्ति होगी 'अधिशीङ्–'सूत्र से ही। पूर्ण अन्वय करने पर 'अधिशीङ्स्थासाम् आधारः कर्म', 'अभिनिविशश्च आधारः कर्म' आदि सूत्रों की स्थिति होगी। ऐसे स्थलों में अधि आदि उपसर्ग सप्तमी विभक्ति के अर्थ के द्योतक होंगे। इन सूत्रों से जो कर्म होगा उसे 'आधार कर्म' कहा जा सकता है।

अभिनिविशश्च ।१।४।४७। अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्यतरस्याग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापेऽभिनिवेशः।

अभिनिपूर्वक √विश् का आधार कर्म होगा जैसे 'सन्मार्गम् अभिनि

१. पाणिनि : १।४।४५।

२. ,, : १।४।४८।

विशते'। परन्तु कभी-कभी 'पापेऽभिनिवेशः' ऐसे प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग अष्टाध्यायी के सूत्रों के 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्'[1], 'आधारोऽधिकरणम्', 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' और 'अभिनिविशश्च' क्रम में से 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' से मण्डूकप्लुति से (अर्थात् बीच ही में और-और सूत्रों को छोड़कर मेंढ़क की तरह छलांग मारकर) यहाँ 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करने पर सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मत्व की विभाषा व्यवस्थित हो जाती है कि कर्मत्व तो होगा ही, अधिकरणत्व की विवक्षा भी हो सकती है। विभाषा होने पर 'आधारोऽधिकरणम्' से 'अधिकरणम्' का ग्रहण होगा। अभिनिपूर्वक √विश् के योग में अधिकरण का प्रयोग भाष्य में भी मिलता है—'एस्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्.......। सूत्र की व्याख्या में 'अभिनीत्येतत्-सङ्घातपूर्वस्य' जो कहा गया है उसका यह भी अर्थ है कि 'अभि तथा 'नि' उपसर्ग बराबर इसी क्रम में रहें, अन्यथा आधार अधिकरणसंज्ञक ही होगा। इनमें से केवल एक रहने से तो कर्मत्व की प्राप्ति नहीं ही होगी। 'निविशते यदि शूकशिखा पदे'[2] में निपूर्वक √विश् का आधारभूत 'पद' अधिकरण हुआ और उसमें सप्तमी हुई।

सचमुच बात यह है कि 'शब्दों का परस्पर सम्बन्ध जहाँ जैसा रहता है वहाँ उस प्रकार का कर्म, करण, अधिकरण या अन्य कारक होता है। किस शब्द के योग में किस परिस्थिति में किस शब्द से कौन कारक होगा' इसके निर्धारण में शब्दों के स्वभाव का निरूपण भी आवश्यक है] कि संज्ञा का संज्ञा के साथ सम्बन्ध है या क्रिया के साथ या कुछ अन्य पद के साथ। कारकत्व के निर्धारण में इस प्रकार स्पष्टता, तर्क-संगति और प्रयोग की शिष्टता आदि विषयों पर ध्यान रखना चाहिये। 'सन्मार्गम् अभिनिविशते' कितना शिष्ट और शोभन लगता है और वैसा ही अशिष्ट तथा अशोभन लगता 'पापम् अभिनिवेशः' यदि ऐसा प्रयोग व्याकरण से बाधित नहीं होता। फिर यह भी जानने की बात है कि प्रथम उदाहरण में संज्ञा—क्रिया का सम्बन्ध है किन्तु द्वितीय उदाहरण में संज्ञा-संज्ञा का। विभाषा की स्थिति में भी हम इच्छा-

१. पाणिनि : १।४।४४।

२. नैषधीयचरितम् : ४।११।

नुसार आँख मूँदकर सब कुछ नहीं कर सकते। इस प्रकार कर्मत्व और अधिकरणत्व की प्राप्ति के प्रसंग में संज्ञा-क्रिया और संज्ञा-संज्ञा का परस्पर सम्बन्ध अवश्य निरूपणीय है। लेकिन यहाँ एक प्रश्न और उठता है। क्या कर्मत्व और अधिकरणत्व की विभाषा व्यवहारानुकूल अलग-अलग प्रयोगों के लिये है? ऐसा अर्थ तो कहीं भी नहीं लिया जाता है। किन्तु यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'सन्मार्गम् अभिनिविशते' के साथ-साथ 'सन्मार्गे अभिनिविशते' और 'पापेऽभिनिवेश' के साथ-साथ 'पापम् अभिनिवेश' प्रयोग भी ठीक होंगे। यह अनर्थक होगा। इस दृष्टि से भी कारकत्व के निर्धारण के लिये पदों के परस्पर सम्बन्ध पर ध्यान देना उपयुक्त होगा।

उपान्वध्याङ्वसः ।१।४।४८। उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ।

उप, अनु अधि तथा आङ् में से कोई उपसर्ग यदि √वस् के पूर्व लगा हो तो √वस् का आधार कर्म होता है। 'वैकुण्ठे हरि वसति' के स्थान में 'वैकुण्ठं हरि उपवसति' 'वैकुण्ठं हरि अनुवसति' 'वैकुण्ठं हरि: अधिवसति' तथा 'वैकुण्ठं हरि आवसति' प्रयोग होंगे।

सूत्र में कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि निर्दिष्ट उपसर्गों में से एक से अधिक के साथ √वस् के युक्त रहने पर भी आधार कर्मसंज्ञक होगा या नहीं। आपाततः मालूम पड़ता है कि इस अवस्था में भी आधार कर्म ही होगा। 'हरि वैकुण्ठम् उपाधिवसति' या 'हरि वैकुण्ठम् उपावसति' प्रयोग भी हो सकते हैं।

अभुक्त्यर्थस्य न। वने उपवसति।

उपपूर्वक √वस् जिसका अर्थ 'अभुक्ति' या 'उपवास करना' है उसका आधार कर्म नहीं होगा। अधिकरण का अपवाद कर्म नहीं होने से पुनः अधिकरण की ही प्राप्ति होगी। ऐसी स्थिति में 'वनम् उपवसति' का अर्थ जहाँ 'वन में रहता है' होगा वहाँ 'वने उपवसति' का अर्थ होगा 'वन में उपवास करता है'। परन्तु 'हरिदिनमुपोषितः' कैसे होता है? सार्थबोधिनीकार के

अनुसार[1] यहाँ उपपूर्वक √वस् का अर्थ 'रहना' है। फिर 'उपवास करना' अर्थ लाक्षणिक है। मूलतः वाक्य का अर्थ होगा 'हरिदिन में रहता है' और इसका तात्पर्यार्थ होगा—'चूँकि हरिदिन पवित्र है इसलिये ऐसे पवित्र दिन में उपवास करता है'। 'हरिदिन में 'स्थिति' और 'भोजन-निवृत्ति' में नित्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो किसी तरह प्रयोग सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु मेरे विचार से 'हरिदिनम्' में 'कालाध्वनो—'सूत्र से द्वितीया समझें तो बढ़ियाँ! तब इसका तात्पर्यार्थ होगा—'हरिदिन ऐसे पवित्र दिन में दिनभर कुछ नहीं खाया'। ऐसी दशा में उपपूर्वक √वस् का अर्थ भी प्रसंगानुसार 'उपवास करना' रह जायगा। उसका 'स्थिति' अर्थ करके फिर उसे 'भोजन निवृत्ति' के अर्थ में तोड़ना-मरोड़ना नहीं होगा।

उभसर्वतसोः कार्य्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णा-भक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो-लोकम्।

कारिका में 'तस्' का अन्वय 'उभ' और 'सर्व' दोनों के साथ है। इसके अनुसार 'उभ' तथा 'सर्व' से तसिल् (तस्) प्रत्यय होने पर निष्पन्न शब्दों के योग में द्वितीया होगी। कुछ लोगों के अनुसार चूँकि 'उभ' से तसिल् नहीं होता इसलिये उससे 'उभय' समझना चाहिये और एतदनुसार 'उभय' से तसिल् से निष्पन्न 'उभयतः' शब्द के योग में ही द्वितीया होगी। अन्य के अनुसार 'उभ' से 'उभय' का भी ग्रहण होगा। (इसमत से 'उभ' तथा उभय' दोनों से तसिल् करने पर निष्पन्न शब्दों के योग में द्वितीया होगी। मेरी समझ में 'उभ' के साथ तसिल् प्रायः प्राप्त नहीं, और उपयुक्त भी नहीं क्योंकि तसिल् सख्यावाची शब्द के साथ बहुधा पूरण प्रत्ययान्त (Ordinal) में ही लगता है जैसे द्वितीयतः, तृतीयतः आदि—न कि द्वितः, त्रितः[2]। 'उभ',

---

१. वसेस्त्र स्थितिरर्थः, भोजननिवृत्तिस्त्वार्थिकी ति न दोषः।

२. 'एक' के साथ 'एकतः' भी 'प्रथमतः' के साथ-साथ मिलता है।

और 'उभय' में भी यही अन्तर है। इसके अतिरिक्त यदि 'उभ' के साथ तसिल् संभव रहता तो कम-से-कम 'उभयतः' के साथ अवश्य हो। भट्टोजिदीक्षित 'उभतः' का भी उदाहरण प्रस्तुत करते। अस्तु, 'उभय' में ही तसिल वस्तुतः इष्ट रहने पर 'उभयतः कृष्णं गोपाः' ऐसा कहा। यहाँ 'कृष्ण' शब्द में द्वितीया 'उभयतः' के योग में तथा 'सर्वतः कृष्णं गोपाः' में 'सर्वतः' के योग में। फिर कारिका के अनुसार 'धिक्' के योग में भी द्वितीया होगी यथा 'धिक् कृष्णाभक्तम्' में 'कृष्णस्य अभक्त = 'कृष्णाभक्त' शब्द में। 'उपरि' आदि के योग में भी द्वितीया होगी लेकिन तभी यदि ये आम्रेडित हों। 'उपरि' आदि में भी तीन ही की गणना की गई और ये तीन शब्द अवश्य ही 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये'[1] सूत्र में आये 'उपरि' 'अधि' और 'अधः' हैं। आम्रेडित का अर्थ है द्वित्व (Reduplication)। 'उपरि', 'अधि' और 'अधः' यदि दुबारा प्रयुक्त हों (जैसे उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः) तो इनके योग में द्वितीया विभक्ति होगी जैसे 'उपर्युपरि लोकं हरिः', 'अध्यधि लोकं हरिः' तथा 'अधोऽधो लोकं हरि' में 'लोक' शब्द में द्वितीया हुई तीनों द्विरुक्त शब्दों के योग में। लेकिन 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' में 'बुद्धीनाम्' में द्वितीया की जगह षष्ठी क्यों हुई? वस्तुतः यह स्खलित ही है किन्तु अमोघ प्रयोग के हिमायती वैयाकरणों ने यह दिखलाकर हमें ठीक बतलाया कि दूसरा 'उपरि' शब्द 'बुद्धीनाम्' के साथ समस्त है और तब इस अवस्था में 'उपरि बुद्धीनाम्' अर्थ देता है—'उदारबुद्धीनाम्'। इस तरह 'उपरि' के योग में आम्रेडितत्व के अभाव में 'उपरि बुद्धीनाम्' में षष्ठी युक्तियुक्त है।

इनके अतिरिक्त शब्दों के योग में भी द्वितीया होती है जैसे—

अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। तस्य शोच्यत इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

---

1. पाणिनि ८।१।७

'अभितः', 'परितः', 'समया', 'निकषा', 'हा' तथा 'प्रति' अव्ययों के योग में भी द्वितीया होती है। 'अभितः' का अर्थ 'उभयतः' और 'परितः' का 'सर्वतः' अर्थ है। 'समया' तथा 'निकषा' का अर्थ 'समीप' है। 'हा' विषाद प्रकट करने अर्थ में 'धिक्' का पर्य्याय है। 'प्रति' भी अव्यय है लेकिन उससे पूर्व यह उपसर्ग है और इसके नाते कर्मप्रवचनीय भी हो सकता है। यहाँ उदाहरण में इसको दोनों में से कोई भी माना जा सकता है। लेकिन समझ में नहीं आता कि किस विशेषता के लिये उसका यहाँ समावेश किया गया है। क्या दूसरे ऐसे उपसर्ग या कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया नहीं होती? केवल उपसर्ग समझने पर 'किञ्चित् बुभुक्षितं न प्रतिभाति' या कर्मप्रवचनीय मानने पर 'बुभुक्षितं प्रति किञ्चित् न भाति' ऐसा अन्वयार्थ सिद्ध होगा। यद्यपि इस के 'भाति' क्रिया पद से युक्त रखने के कारण वृत्तिकार का झुकाव कर्मप्रवचनीय मानने की तरफ नहीं मालूम पड़ता तथापि अधिक संगत वही होगा।

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते ।२।३।४। आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

'अन्तरा' और 'अन्तरेण' अव्ययों के योग में भी द्वितीया होती है। 'त्वाम्' और 'माम्' दोनों ही में उपर्युक्त उदाहरण में 'अन्तरा' से सम्बन्ध के कारण द्वितीया है और दूसरे उदाहरण में 'हरि' शब्द द्वितीयान्त है 'अन्तरेण' के योग में। लेकिन 'द्वयोश्चैवान्तरा कश्चित्' यह कैसे हुआ? वस्तुतः जहाँ दो पदार्थों की अवधि निश्चित हो वहीं द्वितीया होती है क्योंकि 'मध्य' अर्थवाला 'अन्तरा' शब्द सापेक्ष है, वह दो या दो से अधिक का भाव द्योतित करता है, किन्तु प्रस्तुत भाष्य-प्रयोग में अवधि निर्णीत नहीं रहने पर सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी हुई है। यह प्रयोग नियम ज्ञापित करने के साथ-साथ सिद्धान्त भी बताता है। फिर 'अन्तरेण' का अर्थ 'मध्ये' भी होता है। ऐसी दशा में भी यह तृतीया-प्रतिरूपक अव्यय समझा जायगा और इसके योग में 'अन्तरा' के पर्य्यायवाची रहने के कारण भी द्वितीया होगी यथा 'मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः' में। लेकिन 'किमनयोरन्तरेण गतेन' में 'अन्तरेण' शब्द

विशेषवाची है, तृतीया-प्रतिरूपक अव्यय नहीं है—तृतीयान्त है, अतः इसके योग में द्वितीया नहीं हुई। किन्तु यह शब्द 'विषये' या 'अधिकृत्य' अर्थ रहने पर अव्यय ही रहता है, इसीलिये 'तमन्तरेण नाहं किमपि जाने' आदि प्रयोग में भी द्वितीया ही होती है। निष्कर्ष यह कि अव्ययभूत 'अन्तरेण' शब्द के योग में द्वितीया, अन्यत्र शब्दशक्ति के अनुसार अन्य विभक्ति होती है। फिर भी 'अन्तरा त्वां मां कृष्णस्य मूर्तिः' में 'कृष्ण' शब्द में द्वितीया नहीं हुई क्योंकि 'अन्तरा' का प्रयोग रहने पर भी 'कृष्ण' शब्द से उसके अन्वय का अभाव है।

कर्मप्रवचनीयाः ।१।४।८३। इत्यधिकृत्य ।

'प्राग्रीश्वरान्निपाताः'[1] से 'रीश्वर' शब्द से पूर्व के सभी निपात कर्मप्रवचनीय होंगे। निपात तो कोई भी अव्यय है लेकिन यहाँ यह केवल उपसर्गों को बतलाता है। यह इसीसे ज्ञापित होता है चूँकि उपसर्गों को छोड़कर कोई भी अन्य प्रकार के अव्यय कर्मप्रवचनीय होते नहीं दिखलाये गये हैं 'कर्म (क्रियां) प्रोक्तवन्तः ये (उपसर्गाः) ते कर्मप्रवचनीयाः', बाहुलक से कर्त्ता के अर्थ में भूतार्थ में अनीय प्रत्यय यहाँ हुआ। 'कर्म' का अर्थ 'क्रिया' लिया गया है। तत्त्वबोधिनीकार के इस भाष्य के अनुसार 'जो उपसर्ग क्रिया को उक्त करते हैं (अर्थात् प्रधानता देते हैं) वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं'। यहाँ 'उक्त करना' का अर्थ पूर्वनिश्चित 'अभिधान' ही लेना उचित है किन्तु क्रिया की प्रधानता तो रहती ही है, उसे क्या प्रधानता दी जायगी? वस्तुतः भासित होता है कि उपसर्गों की स्थिति में जो अर्थ थे उनमें अधिक या प्रबल रूपं द्योतित करने की शक्ति देना ही यहाँ प्रधानता देना होगा। मेरी समझ में 'कर्म प्रोच्यते यैः (उपसर्गैः) कर्मप्रवचनीयाः' ही अर्थ लेना सुगम और उपयुक्त होगा। ऐसी स्थिति में 'कर्म' का 'क्रिया' अर्थ लिये बिना भी काम चल जाता है। यह पूर्वकथित 'अभिधान' के अर्थ के अनुकूल भी है। इसके अनुसार 'जिनके द्वारा कर्म उक्त होता है (अर्थात् अप्रधान से प्रधान बना दिया जाता है) वे ही (उपसर्ग) कर्मप्रवचनीय होंगे'। इस प्रकार पूर्वोक्त चतुर्विध या तिङ्कृत्तद्धित समासरूप चतुर्विध अभिधान के प्रकार के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय के द्वारा भी

---

१. पाणिनिः १।४।५६।

अभिधान का अन्य प्रकार संभव होगा। फिर तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार मूलार्थ में 'अनीय' प्रत्यय रखने से सूचित होगा कि वे (कर्मप्रवचनीय) सम्प्रति क्रिया का द्योतन नहीं करते हैं।[1] वस्तुतः वह न तो क्रिया का द्योतक होता है और न्व सम्बन्ध का वाचक ही, दूसरी कोई क्रिया को भी आक्षेप से लक्षित नहीं करता, केवल सम्बन्ध का भेदक होता है। 'जपमनु प्रावर्षत्' आदि उदाहरणों में द्वितीया के द्वारा ज्ञात लक्ष्य-लक्षणभाव 'अनु' कर्मप्रवचनीय के द्वारा विशेष सम्बन्ध में स्थापित होता है।

अनुर्लक्षणे १।४।८४। लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।

लक्ष्यतेऽनेन तल्लक्षणं चिह्नम्। लक्षण द्योतित होने पर (अर्थात् जिसके द्वारा कुछ सूचित हो उसके रहने पर) 'अनु' उपसर्ग कर्मप्रवचनीय होगा। कर्मप्रवचनीय संज्ञा, गतिसंज्ञा और उपसर्गसंज्ञा के अपवादस्वरूप होगी। 'गति' और 'उपसर्ग'[2] दोनों ही क्रिया के योग में होते हैं और कर्मप्रवचनीय क्रियायोग से स्वतंत्र अपनी सत्ता रखता हुआ एक विशिष्ट निर्दिष्ट अर्थ में कर्म को अभिहित करता है। जो अप्रधान को प्राधान्य देता है वह दूसरे पद से यदि अधिक मुख्य तथा स्वतंत्र नहीं तो कम-से-कम बराबर निश्चित रूप से रहेगा। 'उपसर्ग' और 'गति' केवल क्रिया के अर्थ में वैलक्षण्य लाते हैं; कर्मप्रवचनीय सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ में विशेषता लाता है एक अर्थविशेष का बोध करा कर्म को उक्त करके।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।२।३।८। एतेन योगे द्वितीया स्यात्। जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। पराऽपि हेतौ (इति) तृतीयाऽनेन बाध्यते, 'लक्षणेत्थंभूते' त्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

---

१. हरि :—क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥

२. पाणिनिः १।४।५९। उपसर्गाः क्रियायोगे।

कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। चूँकि यह 'कर्म को ही उक्त करता है, इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उस हालत में 'कर्म' की स्थिति 'कर्मप्रवचनीय' से पूर्व होगी और चूँकि 'कर्म' में द्वितीया होती है इसलिये द्वितीया विभक्ति की स्थिति भी कर्मप्रवचनीय के पूर्व होगी। लेकिन व्यवहार में साधारणतया हम कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया पाते हैं (यद्यपि कभी-कभी पंचमी और सप्तमी भी होती है विशेष-विशेष अवस्था में), इसलिये लौकिक साधारणीकरण (Popular generalisation) के अनुसार हम ऐसा कह सकते हैं।

ऊपर दिये उदाहरण में 'जप' शब्द में द्वितीया है 'अनु' कर्मप्रवचनीय के योग में। दूसरे शब्दों में, 'जप' में 'कर्म' में द्वितीया है जिसको 'अनु' अभिहित कर रहा है। 'जप' में अनभिहित रहने के कारण द्वितीया है और यही बतलाता है कि 'जप' अप्रधान है। लेकिन 'अनु' जो यहाँ लक्षण के अर्थ में प्रयुक्त है, उसको प्रधान बना रहा है। साथ-साथ 'अनु' से 'पश्चात्' का अर्थ भी उपसर्ग-वृत्तित्व में ध्वनित होता है क्योंकि पहले यह उपसर्ग है और तब कर्मप्रवचनीय। जब उपसर्ग के विशेष अर्थ के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय का अर्थ द्योतित होगा तो 'जप के बाद वृष्टि हुई' और 'वृष्टि लक्षित हुई जप से' ये दोनों अर्थ प्रस्तुत उदाहरण में परिलक्षित होंगे जिसमें पहला अर्थ उपसर्गजन्य होगा और दूसरा कर्मप्रवचनीयजन्य। कर्मप्रवचनीय का अर्थ उपसर्ग के अर्थ में इतनी प्रबलता ला देता है कि 'जप' को हेतुगम्य प्रधानता हो जाती है—वृष्टि जप के ठीक बाद इतनी जल्दी हुई कि मानो जप के ही कारण हुई। अब 'जप' और 'वृष्टि' में कारणकार्य्य का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पुन, हेतु का भाव रहने पर भी 'हेतौ' सूत्र से 'जप' में तृतीया नहीं होगी क्योंकि कर्मप्रवचनीयप्रयुक्त द्वितीया हेतुप्रयुक्त तृतीया को बाधित करती है। यह इसलिये होता है चूँकि यहाँ केवल हेतु का ही भाव नहीं, लक्षण का भी भाव है और 'अनु' कर्मप्रवचनीय के द्वारा एक विशेष स्थिति बता दी जाती है। इसके विपरीत, 'हेतौ' सूत्र में केवल हेतु का भाव अपेक्षित है। फिर 'लक्षणेत्थंभूताख्यान'[1] सूत्र के द्वारा तो स्पष्टतः लक्षणार्थ में 'अनु' कर्म-

1. पाणिनि. १।४।९०।

प्रवचनीय होता ही है, तव क्यों 'अनुर्लक्षणे' सूत्र वनाना पड़ा ? अन्तर यह है कि 'लक्षणेत्थंमूत' सूत्र में केवल लक्षण द्योतित रहता है लेकिन 'अनुर्लक्षणे' सूत्र में हेतुभूत लक्षणभाव रहना चाहिये। यद्यपि सूत्र से यह स्पष्ट नहीं है तथापि उदाहरण से ध्वनित होता है। इसलिये हेतुगर्भ लक्ष्य-लक्षणभाव को व्यक्त करने में 'लक्षणेत्थंभूत—' सूत्र पर्य्याप्त नहीं था।

तृतीयार्थे ।१।४।८५। अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संवद्धेत्यर्थः । षिञ् वन्धने । क्तः ।

इस सूत्र में 'अनुर्लक्षणे' से 'अनु' की अनुवृत्ति करते हैं और तव अर्थ होता है कि तृतीया विभक्ति के अर्थ में 'अनु' कर्मप्रवचनीय होगा। 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[1] सूत्र से फलित साहचर्य्यरूप ही तृतीया के अर्थ का यहाँ ग्रहण होगा। उक्त उदाहरण में सहार्थ तृतीया के अर्थ में ही 'नदी' शब्द से 'अनु' के योग में द्वितीया हुई है। ऐसा वृत्ति से स्फुट है–'अनु' की जगह 'सह' और 'नदी' शब्द में द्वितीया की जगह तृतीया। 'नदीम् अनु अवसिता सेना' की जगह 'नद्या सह सम्वद्धा सेना' ऐसा पाते हैं। 'अवसित' में अवपूर्वक षिञ् वन्धनार्थक धातु से क्त प्रत्यय है। लेकिन 'रामेण शरेणानुहतो वाली' में अनु के योग में 'शर' शब्द में द्वितीया क्यों नहीं हुई ? वस्तुतः यहाँ 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी' परिभाषा से करण संज्ञा के द्वारा कर्मप्रवचनीय संज्ञा वाधित हो गई। यहाँ 'अनु' क्रियायोग[2] में केवल उपसर्ग है किन्तु यदि 'अनु' कर्म प्रवचनीय नहीं है तो उसके योग में द्वितीया होने का प्रश्न ही क्यों उठता है ? वस्तुतः 'तृतीयार्थे' की जगह 'सहार्थे' सूत्र उपयुक्त होता क्योंकि यदि 'तृतीया' के अर्थ में अनु कर्मप्रवचनीय होता है और कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होती है तो फलित हुआ कि तृतीया के अर्थ में द्वितीया होती है और यह कथन तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण है[3]। फिर 'सहार्थे' सूत्र वनाने से तृतीया

---

१. पाणिनिः २।३।१९।

२. द्रष्टव्यः पृष्ठः ४७ : पाद टिप्पणी।

३. वृत्त-तर्क—दोष (Fallacy of Arguing in a circle)।

जो कई अर्थों में आ सकती है, केवल 'सहार्थ' का ही बोध करायेगी जैसा अपेक्षित है। इस तरह अतिविस्तृत परिभाषा (Fallay of two wide definition) के दोष से भी हम बच जायेंगे। प्रस्तुत देखा जाय तो 'सह' के अर्थ में ही 'अनु' का कर्मप्रवचनीय होना जँचता है क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण में 'सह' की जगह ही 'अनु' का अन्वय है। 'सह' की जगह 'अनु' के कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होने ही 'नदी' शब्द में तृतीया की जगह द्वितीया हो जायगी।

हीने ।१।४।८६। हीने द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । अनु हरिं सुराः । हरेर्हीना इत्यर्थः ।

'अनु' की अनुवृत्ति करने पर अर्थ होता है कि 'हीन' अर्थ द्योतित होने पर 'अनु' कर्मप्रवचनीय होगा। 'हीन' शब्द सापेक्ष है। यह 'उत्कृष्ट और 'अपकृष्ट' दोनों की स्थिति बतलाता है लेकिन 'हीन' अर्थ में 'अनु' कर्मप्रवचनीय के योग में किसमें द्वितीया होगी—उत्कृष्ट में या अपकृष्ट में ? 'उत्कृष्ट' में ही ऐसा होगा तार्किक तथा व्यावहारिक नियम के कारण। कोई पदार्थ जब हीन बतलाया जाता है तो किसी उत्कृष्ट पदार्थ से ही। किन्तु जब किसी पदार्थ की उत्कृष्टता बतलाई जायगी किसी अपेक्षाकृत अपकृष्ट पदार्थ से—सो ऐसी स्थिति में 'उत्कृष्ट' अर्थ की प्रधानता रहेगी, वस्तुत 'हीन' अर्थ द्योतित होने पर' की अपेक्षा 'हीन पदार्थ के रहने पर—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ऐसी स्थिति में 'हीन' पदार्थ की सत्ता के साथ-साथ 'उत्कृष्ट' पदार्थ में मूलतः पष्ठी होगी और 'अनु' के कर्मप्रवचनीय होने के नाते तुरत उसमें द्वितीया हो जायगी। ऐसा करने पर 'हीन का अर्थ' भी ध्वनित हो जायगा। प्रस्तुत उदाहरण में 'सुर' की अपेक्षा 'हरि' की उत्कृष्टता विवक्षित है, अत. 'हरि शब्द में द्वितीया हुई।

उपोऽधिके च ।१।४।८७। अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञंस्यात् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने—उप हरिं सुराः ।

उपर्युक्त सूत्र में 'हीने' की अनुवृत्ति करने पर अर्थ होता है—'अधिक'

तथा 'हीन' अर्थ में 'उप' कर्मप्रवचनीय होगा 'अधिक' का अर्थ 'अतिशय' तथा 'हीन' का अर्थ पूर्वक्रमानुसार 'अपकृष्ट' है। 'अधिक' के अर्थ में 'उप' जब कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है तो 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' से उसके योग में अपवादस्वरूप सप्तमी होती है। उस सूत्र में 'उप परार्द्धे हरेर्गुणाः' उदाहरण में 'उप' की अनुवृत्ति इसी सूत्र से होती है। अतः केवल अवशिष्ट 'हीन' के अर्थ में 'उप' के कर्मप्रवचनीय होने से उसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' से द्वितीया होगी। पूर्ववत् 'उप हरिं सुराः' में भी व्यवहार से 'उत्कृष्ट' पदार्थ में ही द्वितीया हुई पंचमी के स्थान में। प्रसंगानुसार 'हीन' का अर्थ जिस प्रकार अपकृष्ट होता है उसी प्रकार 'अधिक' का अर्थ उत्कृष्ट होता लेकिन ऐसा नहीं हुआ जैसा 'अधिकार्थ' में 'उप' कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग से ज्ञापित होता है। वहाँ सामान्य अर्थ में 'अधिक' का 'आधिक्यवान्' ही अर्थ है। यदि 'अधिक' का अर्थ उत्कृष्ट होता तो अपेक्षित सापेक्षता के अनुसार उदाहरण में 'हीन' अर्थवाची शब्द से ही पंचमी के स्थान में द्वितीया के अपवादस्वरूप सप्तमी होती। पूर्ववत् 'हीन तथा अधिक के अर्थ में' की जगह "हीनअर्थवाची तथा अधिक अर्थवाची' शब्दों के रहने पर 'उप कर्मप्रवचनीय होगा' ऐसा ही कहना उपयुक्त होगा।

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ।१।४। ९०। एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे-वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा। भागे—लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्, एषु किम्? परिषिञ्चति।

लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग तथा वीप्सा के अर्थ में प्रति, परि तथा अनु कर्मप्रवचनीय होंगे और इनके योग में द्वितीया होगी। लेकिन लक्षण के

अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीयता जब एकबार 'अनुर्लक्षणे' सूत्र में बतला दी गई तो फिर इस सूत्र में उसका समावेश क्यों किया गया ? वस्तुत. जैसा 'अनुर्लक्षणे' सूत्र की व्याख्या के अवसर पर संक्षिप्त विवेचन कर दिया गया है—वहाँ लक्ष्यलक्षणभाव के साथ-साथ हेतुकार्यभाव भी संनिहित है लेकिन यहाँ ऐसी बात नहीं। इस सूत्र में केवल लक्ष्यलक्षणभाव है, अतः विवेचन पृथक् रूप से करना अनिवार्य्य था अन्यथा स्पष्टीकरण संभव नहीं था। उदाहरण में प्रति, परि, या अनु के योग में अलग-अलग कर्मप्रवचनीयसंज्ञा में 'वृक्ष' शब्द में द्वितीया हुई है। लक्ष्यलक्षणभाव ही सर्वत्र द्वितीया विभक्ति का अर्थ है जो 'प्रति' आदि के द्वारा द्योतित होता है। वृक्ष पर विद्युत् का प्रकाश उत्पन्न होता है और तुरत विलीन हो जाता है। इसतरह वृक्ष पर के इस उत्पन्न-विनष्ट प्रकाश से विद्युत् का अनुमान होता है और जिस लक्षण, पर यह अनुमान स्थापित होता है वह 'वृक्ष' का उत्पन्न-विनष्ट प्रकाश ही है जो अभेदोपचार से 'वृक्ष ही समझा जायगा। फिर, इत्थंभूतः कंचित् प्रकारं प्राप्तः = इत्थम्भूतः, तस्य आख्यानम् इत्थम्भूताख्यानम्॥ 'ऐसा हुआ' इस तरह जहाँ कहा जाता है वहाँ भी प्रति, परि तथा अनु कर्मप्रवचनीय होते हैं और उनके योग में द्वितीया होती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'भक्त होना' ही प्रकार-कथन है, ऐसा बोध होने पर 'विष्णु' शब्द में द्वितीया हुई। यहाँ भक्त विष्णुभक्तिरूप विशेष प्रकार को प्राप्त होता है। इसके विपरीत, जो विष्णुभक्ति को प्राप्त होता है वह कर्तृत्व के कारण स्वतंत्र होगा और उस शब्द में प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा होगी। पुनः 'इत्थंभूत' (भक्तः) आख्यायते येन' ऐसा करणार्थक ल्युट् प्रत्यय से व्युत्पत्ति करने पर जिसके द्वारा विष्णुभक्तिरूप प्रकार की प्राप्ति हो उसमें (अर्थात् 'विष्णु' शब्द में) तत् तत् कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होगी। इत्थम्भूताख्यान वस्तुत. विषयता सम्बन्ध का ही आख्यान है। उक्त उदाहरण का अर्थ है—'भक्तिः विष्णुविषयकभक्तिमान् है या, स्पष्ट भाषा में—'विष्णु का भक्त है'। सचमुच यहाँ द्वितीया विभक्ति का अर्थ यही विषयता-सम्बन्ध है जो 'प्रति' आदि कर्मप्रवचनीय के द्वारा द्योतित होता है। इसी प्रकार 'भाग' के अर्थ में उक्त उपसर्गों के कर्मप्रवचनीय होने पर उनके योग में द्वितीया होगी। यहाँ

द्वितीया विभक्ति का अर्थ 'लक्ष्मी' और 'हरि' के बीच का स्वस्वामिभाव का सम्बन्ध है जो उक्त कर्मप्रवचनीयों के द्वारा द्योतित होता है। व्याप्तुम् इच्छा वीप्सा। प्रत्येकत्व या सम्पूर्णत्व द्योतित होने पर भी तत् तद् उपसर्ग कर्मप्रवचनीय होंगे। उदाहरण में वृक्षसेचन की व्याप्ति या सम्पूर्णता बतलाई गई है। वृक्षों को एक-एक करके सींचता है (अर्थात् कोई भी वृक्ष सेचनकर्म से छूटता नहीं है)। लेकिन वीप्सा का अर्थ यदि द्योतित हो जाता है कर्मप्रवचनीय के द्वारा ही तो 'वृक्षं वृक्षं' ऐसी द्विरुक्ति क्यों की गई? [1]तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार यद्यपि द्विर्वचन से ही काम चल जाता, फिर भी ऐसी बात नहीं कि प्रति आदि कर्मप्रवचनीय उस भाव को एकदम द्योतित नहीं करते। वस्तुतः यह टेढ़ी दलील है। कम से कम इतना तो कहना ही होगा कि द्विरुक्ति के द्वारा द्योतित वीप्सा का अर्थ कर्मप्रवचनीय के द्वारा और प्रबल बना दिया जाता है। इससे भी अच्छा होगा यदि 'वीप्सा के अर्थ में'—ऐसा नहीं कहकर 'वीप्सा (अर्थात् वीप्साबोधक पद) में प्रति आदि कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होती है' ऐसा कहें। वीप्सा का बोध कराने के लिये 'नित्यवीप्सयोः'[2] से द्विरुक्ति का प्रयोग आवश्यक है। ऐसा करने पर द्विरुक्त वीप्साबोधक पद में ही द्वितीया विभक्ति होगी। और एक पद में द्वितीया होगी तो दूसरे में भी द्वितीया होगी सेचन क्रिया के प्रति समानाधिकरणत्व के कारण।

चूँकि गतिसंज्ञा तथा उपसर्गसंज्ञा के अपवादस्वरुप कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है इसलिये उपसर्गत्व के अभाव के कारण 'उपसर्गात्सुनोति[3] सूत्र से 'सिञ्चति' में 'स' के स्थान में 'ष' नहीं हुआ। सचमुच, कर्मप्रवचनीय की अवस्था में 'प्रति' तथा 'परि' क्रियायोग में नहीं रहते हैं, अतः षत्व के प्रसंग में नियमानुसार वे क्रियापद को प्रभावित नहीं कर सकते हैं समानपदत्व के अभाव के कारण। लेकिन इसके विपरीत, उनके केवल उपसर्ग होने पर उपर्युक्त

---

१. तथा च प्रकृत्यर्थगतकार्त्स्न्यमेव व्याप्तिः, सा यद्यपि द्विर्वचनद्योत्या तथापि प्रतिपर्यनुयोगे तद्द्योत्यत्वमपि। तथा च कृत्स्नं वृक्षं सिञ्चतीत्यर्थः।

२. पाणिनि : ८।१।४।

३. पाणिनि : ८।३।६५।

३. का० द०

सूत्र से षत्व अनिवार्य होगा, हालाँकि ऐसी अवस्था में भी 'अनु' के साथ 'सिञ्चति' में षत्व नहीं होगा क्योंकि उसमें षत्व का निमित्त कुछ नहीं है। लक्षण आदि अर्थ नहीं रहने पर प्रति, परि तथा अनुकर्मप्रवचनीय नहीं होंगे। अतएव प्रत्युदाहरण में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा के अभाव में उपसर्गसंज्ञा की प्रवृत्ति के कारण 'परिषिञ्चति' में षत्व दीख पड़ता है। उपसर्ग पद में षत्व निमित्त रहने पर और क्रिया योग के कारण समानपदस्थ होने पर क्रियापद में षत्व का होना कर्मप्रवचनीयसंज्ञा के अभाव तथा उपसर्गसंज्ञा के भाव को स्पष्ट बतलाता है।

अभिरभागे ।१।४।९१। भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिमभिवर्त्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिषिञ्चति अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद् दीयताम्।

उपर्युक्त 'लक्षण', 'इत्थम्भूताख्यान', 'भाग' तथा 'वीप्सा' अर्थों में से 'भाग' अर्थ को छोड़कर 'लक्षण' आदि अर्थों में 'अभि' कर्मप्रवचनीय होगा। चूँकि पूर्वसूत्रगत सभी अर्थों में यह कर्मप्रवचनीयसंज्ञक नहीं होता है, इसीलिये इसका समावेश 'प्रति', 'परि' तथा 'अनु' के साथ असम्भव था। अतः अन्य सूत्र बनाना पड़ा। 'लक्षण', 'इत्थम्भूताख्यान' तथा 'वीप्सा'—इन तीन अर्थों में अभि के कर्मप्रवचनीय होने के उदाहरण क्रमशः दिये गये हैं। ये अर्थ तत्-तत् स्थल पर पूर्ववत् द्योतित होते हैं। किन्तु 'भाग' अर्थ रहने पर 'अभि' कर्मप्रवचनीय नहीं होगा—ऐसा क्यों कहा? प्रत्युदाहरण में 'अभि' है 'भाग' के अर्थ में। 'यदत्र ममाभिष्यात्तद् दीयताम्' का अर्थ है—'यदत्र मम भागः स्यात्तद् दीयताम्'। वस्तुतः यहाँ कर्मप्रवचनीयसंज्ञा के अभाव में 'अभि' के साथ उपसर्ग रहने के कारण उसके योग में 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः'[1] सूत्र से षत्व हो गया है। उपर्युक्त उदाहरणों में जहाँ भी षत्व की संभावना थी, षत्व नहीं हुआ है। यह बात इसका प्रमाण है कि ऐसे स्थलों में सर्वत्र 'अभि' कर्मप्रवचनीय है। चूँकि षत्व नियमानुकूल उन्य

१. पाणिनि ८।३।८७।

'सकार' के स्थान में ही होता है, इसलिये बहुत कम जगहों में कर्मप्रवचनीयत्व की प्राप्ति का बाह्य चिह्न मिलेगा। बहुधा क्रियायोगाभाव तथा तत्-तद् उक्त अर्थों के मात्र ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा की स्थिति बतला सकते हैं।

अधिपरी अनर्थकौ ।१।४।९३। उक्तसंज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्य्यागच्छति। गतिसंज्ञा बाधात् "गतिर्गता" विति निघातो न।

'जो (उपसर्ग आदि) दूसरे अर्थ को नहीं कहते वे धातु के द्वारा उक्त क्रियार्थ को ही कहते हैं।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार धातु के अर्थ के अतिरिक्त दूसरे अर्थ को द्योतित नहीं करना ही अनर्थकत्व है। प्रस्तुत प्रसंग में अधि और परि यदि धातु के अर्थ को छोड़ कोई विशेष अर्थ द्योतित नहीं करें[2] तो वे कर्मप्रवचनीय होंगे। अर्थात् जहाँ अधि या परि के योग में क्रियापद में कोई विशेष अर्थ नहीं आ जाय वहीं ये कर्मप्रवचनीय होंगे अन्यथा जहाँ ये क्रियायोग में धातु के अपने अर्थ के अतिरिक्त कुछ भी विशेष अर्थ को द्योतित करें वहाँ केवल उपसर्गमात्र समझे जायेंगे। उपर्युक्त उदाहरणों में अधि तथा परि 'आगच्छति' क्रियापद में 'आगमन' के अतिरिक्त कोई भी विशेष अर्थ नहीं द्योतित करते, अतः ये यहाँ कर्मप्रवचनीय हैं। 'अध्यागच्छति' और 'पर्य्यागच्छति' में अधि तथा परि का क्रियायोग नहीं समझना चाहिये। सन्धि की अपेक्षा रहने पर मात्र सन्धि कर दी गई है। इस तरह उपसर्गसंज्ञा यदि बाधित हुई कर्मप्रवचनीयसंज्ञा से तो गतिसंज्ञा भी बाधित होगी क्योंकि दोनों ही कर्मप्रवचनीयसंज्ञा के प्रति अपवाद हैं। गतिसंज्ञा के बाधित होने के कारण 'गतिर्गतौ' से 'पर्य्यागच्छति' और 'अध्यागच्छति' में परि तथा आगच्छति और अधि तथा आगच्छति में सन्धि होने पर सन्धिस्थल में अनुदात्तस्वर नहीं हुआ जो गतिसंज्ञा होने पर होता।

---

१. भाष्यकारः ।१।४।९। अनर्थान्तरवाचिनौ धातुनोक्तक्रियामेवाहतुः।

२. उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥—के अनुसार।

सुः पूजायाम् ।१।४।९४। पूजायां सुरुक्तसंज्ञः स्यात् । सु सिक्तम् । सु स्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम्? सुषिक्तं किं तवात्र ? क्षेपोऽयम् ।

पूजा (प्रशंसा) अर्थ द्योतित होने पर 'सु' कर्मप्रवचनीय होगा । कर्मप्रवचनीयत्व के अनुकूल ही क्रियायोग का अभाव है । क्रियायोग रहने पर 'सु' उपसर्ग होता । फिर 'सिक्तम्' तथा 'स्तुतम्' में सकार के स्थान में षत्व भी नहीं है । उपसर्ग होने पर 'उपसर्गात् सुनोति—' सूत्र से षत्व होता । लेकिन प्रशंसा द्योतित होने पर ही कर्मप्रवचनीय होगा 'ऐसा क्यों कहा ? वस्तुतः प्रत्युदाहरण में निन्दा द्योतित होती है । इसलिये 'सु' यहाँ उपसर्ग है, क्रिया योग में है और इसके कारण यहाँ षत्व हो गया है 'सुषिक्तम्' में उपसर्गसंज्ञा करने पर 'सु स्तुतम्' के स्थान में 'सुष्टुतम्' हो जायगा । इस सूत्र में यथा पूर्वगत सूत्र से निर्दिष्ट कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया हो' इसके लिये कोई अवकाशस्थान (Scope) नहीं है । ऐसी हालत में पूर्व कथनानुसार क्रिया-योगाभाव तथा षत्वाभाव आदि इतर सङ्केतों से ही कर्मप्रवचनीयत्व जाना जाता है ।

अतिरतिक्रमणे च ।१।४।९५। अतिक्रमणे पूजायां चाऽतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ।

चकार के बल पर ऊपरवाले सूत्र से यहाँ 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्रानुसार 'अतिक्रमण' तथा 'पूजा' दोनों अर्थों में 'अति' कर्मप्रवचनीय होगा । 'अतिक्रमण' का अर्थ 'बढ़ जाना' (Surpassing) तथा 'पूजा' का अर्थ पूर्ववत् 'प्रशंसा' है । 'अति देवान् कृष्णः' का अर्थ है—'कृष्ण (अन्य) देवताओं से बढ़े हुए हैं । फिर 'कृष्ण देवताओं से अधिक पूज्य है' ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है । उदाहरण में पूजा का अर्थ वस्तुतः अतिक्रमण के अर्थ में ही ध्वनित है । दूसरे अर्थ का सम्बन्ध उस एक ही उदाहरण से साक्षात् नहीं मालूम होता है । अतः कुछ वैयाकरणों ने इसके बदले 'अतिस्तुतम्' और 'अति सिक्तम्' उदाहरण दिये हैं । अतिक्रमण के अर्थ में इनके

अर्थ होंगे—'अधिक स्तुति की है' या 'अधिक सींचा है' और पूजा' के अर्थ में —'बढ़ियाँ तरह से स्तुति की है' या 'बढ़ियाँ तरह से सींचा है'।

'स्वती पूजायाम्' सूत्र से 'पूजा' अर्थ में 'सु' और 'अति' 'कुगति प्रादयः'[1] सूत्र के अन्तर्गत समस्त नहीं होंगे। इसके विपरीत, 'अतिक्रमण' अर्थ में अति' का (क्योंकि इस अर्थ में 'सु' नहीं होता है) समास रोकने के लिये कोई सूत्र तो नहीं है लेकिन अनभिधान (अर्थात् शक्तिग्रह के अभाव) के कारण ही यह समास नहीं होता है।

अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ।१।४।९६।

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः 'स्यादि'त्यनेन सम्बध्यते। 'सर्पिष' इति षष्ठी त्वपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्त्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्। सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्त्तुमत्युक्तिः। अपि स्तुहि। अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्। गर्हा। अपि सिञ्च। अपि स्तुहि। समुच्चये।

'पदार्थ', सम्भावन', 'अन्ववसर्ग', 'गर्हा' तथा 'समुच्चय' अर्थों में 'अपि' कर्मप्रवचनीय होता है। पदार्थ का यहाँ अर्थ है—अप्रयुज्यमानस्य पदान्तरस्यार्थः—अर्थात् प्रयुक्त पद से अतिरिक्त गम्यमान किसी पद का अर्थ। इस लिये प्रयुक्त पदों से अतिरिक्त किसी पद का अर्थ यदि 'अपि' के द्वारा द्योतित होता है तो वह ऐसी स्थिति में कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होगा। जहाँ कमी के

---

१. पाणिनि : २।२।१८।

कारण खाने वाले को लेशमात्र घी मिलता है वहाँ की उक्ति है—'सर्पिषोऽपि स्यात्'। यहाँ उपसर्गत्व के अभाव के कारण ही 'स्यात्' में षत्व नहीं हुआ है, अन्यथा 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्—' सूत्र से हो जाता। संभावना में 'उपसंवादाशंकयोश्च'[1] से लिङ् लकार में 'स्यात्' है। यह संभावना उत्कट से इतर कोटि की आशंका ही है। घी के होने की सम्भावना के कारण कर्त्ता (जो यहाँ 'बिन्दु' है और गम्यमान है) की कमी के चलते जो साधारणतः घी की कमी ध्वनित होती है उसको द्योतित करता हुआ 'अपि' शब्द 'स्यात्' पद से सम्बन्धित होता है 'सर्पिषोऽपि स्यात्' का अर्थ है—'सर्पिषः बिन्दुरपि स्यात्'। वस्तुतः यहाँ 'बिन्दु' पद गम्यमान है और 'अपि' इसी गम्यमान 'बिन्दु' पद के अर्थ को द्योतित करने के कारण कर्मप्रवचनीय हुआ। 'सर्पिष' में षष्ठी विभक्ति हुई है 'अपि' शब्द के बल से द्योतित 'बिन्दु' के साथ 'सर्पिस्' का अंगांगिभाव सम्बन्ध होने के कारण। यहाँ 'अपि' शब्द की गम्यमान पदार्थ को द्योतित-करने की शक्ति है। 'सर्पिस्' में द्वितीया विभक्ति नहीं होगी 'अपि' कर्मप्रवचनीय के योग में, क्योंकि 'सर्पिस्' का तो गम्यमान 'बिन्दु' के साथ योग है न कि 'अपि' के साथ। इसी प्रकार 'संभावन' के अर्थ में भी 'अपि' कर्मप्रवचनीय होगा। अत्युत्कृष्ट शक्ति को बतलाने के लिये जो अतिशयोक्ति की जाती है वही संभावन है। सरल भाषा में, असंभव विषय की संभावना यदि अतिशयोक्ति के द्वारा की जाय तो वही सम्भावना 'संभावन' कहलायगी। निर्दिष्ट उदाहरण में वाणी तथा मन दोनों के अविषय विष्णु की स्तुति की संभावना की जाती है। यहाँ 'अपि' शब्द संभावन का द्योतक है। इसके विपरीत, पहले उदाहरण में यह संभावना के विषय में (घी के बिन्दु की) कमी का द्योतक है। अतः दोनों में महान भेद है। यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा के द्वारा उपसर्गसंज्ञा के बाधित होने के कारण 'उपसर्गात्सुनोति-' से षत्व नहीं हुआ। षत्व होने पर 'अपिष्टुयात्' ऐसा होता। फिर, 'अन्ववसर्ग' कहते हैं 'कामचारानुज्ञा' को। यह वस्तुतः किसी के प्रति स्वेच्छाचारात्मक आदेश ही है। इस अर्थ में भी 'अपि' कर्मप्रवचनीय होगा। इस प्रकार सूचित उदाहरण का अर्थ होगा—'स्तुति करो या न करो' अर्थात् अपनी

1. पाणिनि : ३।४।८।

इच्छानुसार स्तुति करो। इस तरह कामचारानुज्ञा वस्तुतः विकल्पात्मक अनुज्ञा है।

निन्दा द्योतित होने पर भी 'अपि' 'अपि स्तुयाद् वृषलम्' में कर्मप्रवचनीय हुआ है। यह निन्दा का अर्थ उदाहरण के पूर्वभाग 'धिग्देवदत्तम्' से स्पष्ट सूचित होता है। पुनः 'समुच्चय' दो पदार्थों की अलग-अलग उक्ति को कहते हैं। यह एक ही वाक्य के अन्तर्गत साथ-साथ सम्पन्न होता है। दिये हुए उदाहरण में 'सिञ्चन' तथा 'स्तुति' क्रिया का समुच्चय किया गया है। पूर्ववत् इन स्थानों में भी 'अपि' के कर्मप्रवचनीयत्व के अभाव में 'उपसर्गात्सुनोति—' से षत्व करने पर क्रमशः 'अपिष्टुहि' 'अपिष्टुयाद् वृषलम्' और 'अपिषिञ्च, अपिष्टुहि' हो जायेंगे। फिर इस सूत्र के अन्तर्गत दिये उदाहरणों में भी शक्ति के अभाव के कारण कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति के लिये कोई अवकाशस्थान नहीं है। ऐसे-ऐसे स्थल में कर्मप्रवचनीयत्व का मुख्य सूचक षत्वाभाव ही होता है। वस्तुतः व्यवहार में 'समुच्चय' उक्त होता है 'च' के द्वारा देखा जाय तो 'अपि' यहाँ 'च' के स्थान में ही है जो दो पदार्थवाक्य को सम्बन्धित करता है 'अपि सिञ्च, अपि स्तुहि' के स्थान में कह सकते हैं—'सिञ्च स्तुहि च'।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५। इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।

कालवाची तथा अध्ववाची शब्द में द्वितीया विभक्ति होगी अत्यन्त संयोग में। अन्तः विरामस्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः अत्यन्तश्चासौ संयोगः अत्यन्तसंयोगः। अत्यन्तसंयोग वस्तुतः निरन्तर सन्निकर्ष (Continuons relation or gapless proximity) है, विरामहीन संयोग है। यह विरामहीन संयोग द्रव्य' 'गुण' तथा 'क्रिया' के द्वारा हो सकता है। अर्थतः यदि 'द्रव्य', 'गुण' या 'क्रिया' का सातत्यभाव (Continuity) 'काल' या 'मार्ग' के परिमाण में व्यक्त हो तो जिस कालवाची या मार्गवाची शब्द के द्वारा कुछ 'काल'

तक या (शक्ति के अनुसार मार्गवाची के विषय में) कुछ स्थान तक लगातार किसी 'गुण' या 'क्रिया' या 'द्रव्य' का भाव सूचित हो उस कालवाची या मार्गवाची शब्द में द्वितीया होगी। 'मासं कल्याणी' गुणमुखेन अत्यन्तसंयोग का उदाहरण है। यहाँ 'मास' कालविशेष का परिमाण है। कल्याणत्व-गुण की व्याप्ति मासभर अविच्छिन्न रूप से रहती है। इसी प्रकार 'मासमधीते' मासरूपक कालविशेष के परिमाण में क्रियामुखेन अत्यन्तसंयोग का उदाहरण है। इसका तात्पर्य होगा कि अध्ययन क्रिया तीसो दिन निरन्तर चलती है। लेकिन जिस प्रकार कल्याणत्व का भाव मासभर हो सकता है उस प्रकार अध्ययन क्रिया का भरमास सतत जारी रहना असंभव है। इसलिये मासभर उचित काल में ही अध्ययन क्रिया के सातत्य का भाव विवक्षित है। फिर 'मासं गुडधानाः' मासरूपक कालविशेष के परिमाण में द्रव्यमुखेन अत्यन्त संयोग का उदाहरण है। गुडधानरूप द्रव्य का भाव सतत रूप से मासभर रहता है यही तात्पर्य है। इसी प्रकार क्रोशरूपक अध्ववाची के परिमाण में क्रमशः कोस भर नदी के सर्वथा कुटिलत्व की उक्ति के द्वारा गुणमुखेन, कोस भर तक चलने के प्रसंग में अध्ययन क्रिया के सातत्य की उक्ति के द्वारा क्रियामुखेन तथा कोस भर तक सतत गिरिरूप द्रव्य की स्थिति की उक्ति के द्वारा द्रव्यमुखेन उदाहरण दिये गये हैं। 'काल' तथा 'मार्ग' के परिमाण में अत्यन्त संयोग के अभाव में 'कालवाची तथा मार्गवाची शब्द से द्वितीया का अभाव दिखलाया गया है।

—:o:—

करणकारकः तृतीया विभक्ति

स्वतन्त्रः कर्त्ता ।१।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ।

चूँकि क्रियाकारक का साक्षात् सम्बन्ध कारकत्व के लिये आवश्यक है इसलिये क्रिया की उत्पत्ति में जिस कारक का जितना प्राधान्य रहता है उस दृष्टि से वह कारक उतना ही स्वतंत्र बतलाया जाता है । अतः क्रिया की उत्पत्ति में जो स्वतंत्र (अर्थात् प्रधान)---अर्थतः अन्य कारक की अपेक्षा स्वतंत्र हो उसे ही कर्त्ता कहेंगे । वस्तुतः क्रिया से स्वतंत्र या निरपेक्ष कोई कारक न होता है और न हो सकता है ।[1] अतएव भाष्य में स्वातंत्र्य का अर्थ प्राधान्य लिया गया है । यह अर्थ युक्तियुक्त है । क्रियाजनन में कर्त्ता कारक प्रधान इसीलिये कहा जाता है चूँकि इसी के अनुसार किसी क्रिया की उत्पत्ति होती है । वस्तुतः सूत्रार्थ में अक्षरशः 'कर्त्ता' को 'स्वतंत्र' इसीलिये कह सकते हैं क्योंकि यह क्रिया की उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा नहीं करता । विवक्षा तथा शक्ति के अनुसार कर्त्ता जो क्रिया लेगा उसमें कोई कारक दखल नहीं देगा वल्कि उसी की पुष्टि करेगा, उसी की सहायता करेगा । यदि 'राम' को कर्त्ता मान लिया जाय तो प्रसंगानुसार वह कोई 'व्यापार' या 'क्रिया' की उत्पत्ति करने में समर्थ हो सकता है । यदि 'गमन' अभीष्ट है तो कालपुरुष वचनानुरूप तुरत 'रामः गच्छति' आदि वाक्यार्थ प्रस्तुत हो जायँगे । अब क्रिया की उत्पत्ति होते ही ईप्सिततमादि अन्य अर्थों के रहने पर कर्मादिकारकों की उत्पत्ति होती जायगी । लेकिन यदि 'स्थाली पचति' ऐसा प्रयोग करें तो क्या 'स्थाली' पद कर्ता के रूप में रहने पर भी क्रियाजनन में स्वतंत्र माना जायगा ? हाँ । इसीलिये तो क्रिया की सिद्धि में 'स्वतंत्र रूप से विवक्षित' ऐसा अर्थ लिया गया जिससे वस्तुतः

---

१. स्वतन्त्रोऽसौ ब्राह्मण इत्युच्यते । स्वप्रधान इति गम्यते । तद्यः प्राधान्ये वर्त्तते तन्त्रशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्--१।४।३।

केवल स्वतन्त्र या प्रधान ही कारक 'कर्त्ता' नहीं हो, अपितु स्वतन्त्र की प्रधान की तरह विवक्षित भी कारक 'कर्त्ता' हो सकता है। वस्तुतः शक्ति के अनुसार 'स्थाली' पद में करणे तृतीया होनी चाहिये थी क्योंकि पाकक्रिया में यह साधकतम होता है। फिर भी, यदि अर्थ ऐसा लिया जाय कि 'स्थाली' में पाक कर्त्ता' की सहायता के बिना इस सुविधा से 'पाक' हो रहा है, मानो 'स्थाली' 'पाकक्रिया' में स्वतन्त्र' है—तो 'स्थाली' पद 'कर्त्ता' के रूप में क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्ररूप से विवक्षित होता है। विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति। वक्तुम् इच्छा विवक्षा। वस्तुतः कारक 'वक्ता की बोलने की इच्छा' पर बहुत कुछ निर्भर करता है। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जहाँ तहाँ होता चलेगा। पुनः 'किसी धातु के अर्थ क्रियाविशेषमात्र का आश्रय होना 'कर्त्ता' का 'स्वातन्त्र्य' कहलाता है।[1] किसी फलविशेष को लक्ष्य करके तद् दिशा में जो क्रियाविशेष प्रवर्तित की जाती है वही प्रसंगागत धातुविशेष का अर्थ होगा। 'राम गच्छति' वाक्य में √गम् का अर्थ है 'जाना' और उससे पाद-सञ्चलनादिरूप क्रिया वाचित होती है। ऐसी अवस्था में 'राम' पद पूर्वोक्त पादसञ्चलनादि विशिष्ट गमन क्रिया का 'आश्रय' है। प्रस्तुत स्थल पर मान लिया जाय कि ईप्सित फल है 'ग्राम की प्राप्ति' और बिना गमनक्रिया के उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः यहाँ सर्वथा इष्ट फल के अनुकूल प्रयुक्त क्रिया ही धातु का अर्थ होगा। 'जिसकी क्रिया धातु के द्वारा उक्त हो वही कारक 'कर्त्ता कहलाता है।[2]

सिद्धान्ततः कर्त्ता वाक्यगत किसी भी क्रिया का आश्रय होता है। दूसरे शब्दों में, क्रिया रहती है कर्त्ता में। इस प्रकार यदि कोई कर्त्ता प्रसंगत प्राप्त क्रियामात्र का आश्रय होता है और अन्य किसी क्रियामात्र के आश्रयत्व से मुक्त रहता है तो वह स्वतन्त्र कहलाता है अतः स्वातन्त्र्य का अर्थ बहुत कुछ यहाँ निर्धारक है। फिर, [3]जिस प्रकार कर्मत्व के प्रकरण में अकर्मक की परिभाषा दी गई

---

१. स्वातन्त्र्यं धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्। फलानुकूलो व्यापारः धात्वर्थः—वाक्यमनोरमा ।

२. हरि—धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते।

३. देखिए पृष्ठ संख्या २५।

है कि अकर्मक वह है जिसका कर्म संभव नहीं है लेकिन 'अकर्मकधातुभिर्योगे–' वार्तिक में प्राप्त कर्मत्व के स्थलों को छोड़कर, उसी प्रकार यहाँ भी व्याख्या की जा सकती है कि क्रियाभाव के आश्रयत्व से मुक्ति ही 'स्वातंत्र्य' होता है लेकिन प्रसंगप्राप्त क्रियाभाव के आश्रयत्व को छोड़कर।

इस सूत्र का प्रयोजन यहाँ इसलिये होता है चूँकि कारण कारक के प्रारंभ के पश्चात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र में सर्वप्रथम प्रक्रमानुसार 'कर्त्ता' शब्द का उपादान होता है। प्रथमा विभक्ति के प्रसंग में प्रायः इसकी जरूरत नहीं थी। प्रथमा विभक्ति तो प्रातिपदिकार्थमात्र में होती है, इसलिये 'कर्त्ता प्रथमा' ऐसा कहना दोषपूर्ण होता क्योंकि यद्यपि सभी कर्त्ता प्रातिपदिकार्थ होंगे तथापि सभी प्रातिपदिकार्थ का 'कर्त्ता' होना जरूरी नहीं है। वस्तुतः व्याकरण-सम्बन्धी जटिलता से छूट पाने के लिये जो कोई सुविधा के लिये 'कर्तरि प्रथमा' ऐसा कहते हैं वे वृहत् अर्थ में ही 'कर्त्ता' शब्द का उपादान करते हैं। ऐसी अवस्था में 'कर्त्ता' में सभी प्रातिपदिकार्थ का समावेश करा दिया जाता है।

साधकतमं करणम् ।१।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः ।

क्रिया की सिद्धि में जो कारक प्रकृष्ट रूप से उपकारक हो वही 'करण' कहलाता है। अर्थतः करण कारक क्रिया के द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति में उपकारक होता है। कारकत्व वस्तुविशेष में विशेषणविशेष्य भाव से नियत नहीं रहता है, प्रत्युत वह वैवक्षिक होता है, विवक्षा पर आधारित होता है।[1] जिस प्रकार 'गौः' सभी व्यक्ति के प्रति 'गौः' ही है, किसी के प्रति 'गौः' से भिन्न वस्तु नहीं है उसी प्रकार विशेषण सबों के प्रति विशेषण ही होता है—ऐसी बात नहीं कही जा सकती। इसका कारण यह है कि जो धातु विशेषजन्य क्रिया का आश्रय रहता वह 'कर्त्ता', जो क्रियाजन्य फल का आश्रय होता है वह 'कर्म' और जो कर्त्ता-कर्म के सम्बन्ध से धातुजन्य क्रिया या क्रियाजन्य फल का आश्रय होता है वह 'अधिकरण' कहलाता है और इसी प्रकार

१. वाक्यपदीय : न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।

दूसरे कारक की स्थिति भी होती है। लेकिन कर्त्ता-कर्म करण या अन्य भी किसी कारक के निर्धारण के विषय में सन्देह का अवकाशस्थान हो सकता है जब एक सामान्य (general) क्रिया के साथ अनेकों उपक्रियाएँ (subsidiary-verbs) संभव हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप एक √पच् की मौलिक (fundamental) 'पचन क्रिया' के साथ 'आग पर बर्त्तन को चढ़ाना' 'बर्त्तन में चावल आदि देना' तथा 'जलना' और 'उबलना' आदि क्रियाएँ अनियोज्यरूपसे सम्बन्धित हैं। इस प्रकार 'पचन क्रिया' की मुख्यता होने पर उसका आश्रय 'देवदत्त' कर्त्ता, 'ज्वलन क्रिया' की मुख्यता होने पर आश्रय 'इन्धन' कर्त्ता तथा 'तण्डुलादि धारण' की मुख्यता समझने पर उसका आश्रय 'पात्र' कर्त्ता समझा जायगा। अतः एक अवस्था में जो कर्त्ता रहेगा वह दूसरी अवस्था में करण या कोई दूसरा भी कारक हो सकता है। 'पचन क्रिया' की मुख्यता होने पर 'इन्धन' करण हो जायगा जो अन्यथा 'ज्वलन क्रिया' की मुख्यता होने पर कर्त्ता होता।

किन्तु ठीक से देखने पर कारकत्व के निर्धारण का यह सन्देह निरवकाश पाया जायगा। वस्तुतः किसी धातु से विवक्षित किसी क्रिया में जब कोई कारक 'स्वातन्त्र्य' (अर्थात् प्राधान्य) से विवक्षित होता है तब उस धातु से विवक्षित उस क्रियाविशेष में वही 'कर्त्ता' होगा। फिर किसी कर्तृजन्य क्रिया के द्वारा जब ईप्सिततमत्व की दृष्टि से कोई कारक विवक्षित होता है तब वह उस क्रिया में कर्म होगा। इस तरह कोई अनवस्था नहीं रह जाती तथा सभी कारक सम्यक् परिभाषित और स्वरूपेण निर्धारित हो जाते हैं। लेकिन एक ही वस्तु या व्यक्ति को कर्तृत्व कर्मत्व आदि अनेक भिन्न कारकजन्य उपाधियों से युक्त करना युक्त है, क्या? आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना' ऐसा प्रयोग किस प्रकार संगत है? वस्तुतः यहाँ कोई दोष नहीं है। अहंकार आदि उपाधिभेद से 'आत्मा' की भी भिन्नता मानकर 'आत्मानमात्मना हन्ति' को भी भाष्यकार ने समर्थित किया है। पुनः 'अपने से (स्वयं) आत्मा को जानते हो' आदि अर्थ समझकर तथा एक 'आत्मा' को जीवात्मा दूसरे को परमात्मा मानकर भी उपर्युक्त वाक्यों को सिद्ध बतलाया जा सकता है।

परन्तु 'साधक कारकम्' ऐसा ही कहा जाता तो क्या क्षति थी? 'कारक' के

अधिकार' से तो यहाँ 'कारक' शब्द आ ही जाता फिर 'साधक' और 'कारक' के पर्याय रहने के कारण तथा दोनों के प्रयोग साथ-साथ होने के कारण 'प्रकृष्ट' अर्थ का लाभ भी हो जाता। वस्तुतः कारक प्रकरण में इस सूत्र को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी 'गौणमुख्य'-न्याय प्रवृत्त नहीं होता है। इसी को ज्ञापित करने के लिये यहाँ 'तमप्' का ग्रहण किया गया है। यदि ऐसा ज्ञापित नहीं करते हैं तो 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद में जो अधिकरणसंज्ञा अपेक्षित है वह नहीं होती। 'तिलेषु तैलम्' और 'दधिनि सर्पिः' में जैसे 'तिल' और 'दधि' वैसे यहाँ भी 'गंगा' मुख्य आधार है और मुख्य आधार का अर्थ रहने पर ही सर्वत्र अधिकरण हुआ है। जब लक्षणा के द्वारा 'गंगा' का मतलब 'गंगातीर' होता है और 'गंगा-तीर' का आधारत्व सामीप्य के कारण 'गंगा प्रवाह' में उपचरित होता है (क्योंकि वस्तुतः 'घोष है गंगातीर पर और इसलिये गंगातीर ही है आधार घोष का) तो 'गंगा' पद में जो सप्तमीविभक्ति होती है अधिकरण में वह लाक्षणिकी है, लेकिन जब 'गंगा' पद लक्षणा से 'तीर' में अर्थ में उपचरित होगा तो लाक्षणिक होगा 'गंगा' पद ही नकि 'तीर'। वस्तुतः 'तमप्' का प्रयोग किया गया है 'कारक' और 'साधक' के साथ-साथ प्रयुक्त होने से ध्वनित भी 'साधक' के अर्थ को प्रबल और स्पष्ट बनाने के लिये जिससे यहाँ अधिकरण कारक का भी बोध न हो जाय क्योंकि 'अधिकरण' भी 'साधक' होता है कर्तृजन्य क्रिया की सिद्धि या उत्पत्ति में।

कर्तृकरणयोस्तृतीया ।२।३।१८। अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली।

चूँकि करणकारक के स्वरूप का निरूपण कर दिया गया है इसलिये उसमें कौनसी विभक्ति होगी 'यही कहना बाकी है। पुनः 'स्वतंत्रः कर्त्ता' से 'कर्त्ता' का स्वरूप निर्धारण भी कर लेने पर प्रस्तुत प्रसंग में 'कौन-सी विभक्ति होगी' यही कहने की आवश्यकता है। यह इसीलिये चूँकि पूर्व निरूपण के अनुसार 'कर्त्ता' प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत आ जाता है और प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा कह दी गई है। इस सूत्र के अनुसार 'कर्त्ता' और 'करण' में तृतीया होगी। 'कर्त्ता' के साथ 'अनभिहिते' अधिकार सूत्र का योग समझना चाहिये शक्ति के

कारण, क्योंकि 'अभिहित' कर्त्ता में तो कभी तृतीया विभक्ति का प्रश्न भी नहीं उठ सकता। इसलिये 'करण' में तो तृतीया होगी ही, अनभिहित कर्त्ता में भी तृतीया होगी। कर्मकारकान्तर्गत अभिधान की परिभाषा के अनुसार 'अनभिहित' का अर्थ वस्तुतः 'अप्रधान' है। फिर इस प्रश्न के उत्तर में कि 'कर्त्ता' अप्रधान कब होता है हम पाते हैं कि ऐसा कर्मवाच्य में होता है जब कि कर्म की प्रधानता होती है। कर्तृवाच्य में सर्वथा उसकी प्रधानता रहती है। पता चला यह सिद्ध हुआ कि कर्मवाच्य में 'कर्त्ता' में (अर्थात् कर्मवाच्य के कर्त्ता में) तृतीया विभक्ति होगी 'प्रथमा' के स्थान पर। अतः जहाँ करण की तृतीया विभक्ति नियत है, 'कर्त्ता' की तृतीया उसके केवल 'अनुक्त' रहने पर ही सम्भव है। निर्दिष्ट उदाहरण में 'रामेण' में अनुक्ते कर्तरि तृतीया है और 'बाणेन' में करणे तृतीया। प्रस्तुत वाक्य कर्मवाच्य में है और तभी कर्त्ता का अनुक्त रहना सम्भव हो सका है। इसके पूर्ववाक्य 'राम बाणेन हतवान् वालिनम्' में 'राम' कर्तृ पद है लेकिन 'बाण' यहाँ भी करण है 'वालि' की हनन क्रिया में साधकतम होने के कारण। लेकिन क्या बाण की कर्तृत्वेन विवक्षा नहीं की जा सकती? हाँ, विवक्षा तो हो सकती है किन्तु तब 'राम' पद का प्रयोग नहीं किया जायगा और इसमें तृतीयान्त की वह निश्चितता नहीं होगी जो करण रहने पर थी। ऐसी अवस्था में 'बाणेन हतो वाली' का पूर्ववाक्य होगा—'बाणः हतवान् वालिनम्'। लेकिन करणत्वेन जब इसकी विवक्षा होगी तो 'क्रियते अनेनेति करणम्' की निरुक्ति के अनुसार क्रिया की सिद्धि में साधकतम होने के कारण इसमें सतत तृतीया होगी। वस्तुतः करणत्वेन विवक्षित करण कारक का महत्त्व उस मंत्री की तरह है जो बराबर मंत्री रहता है चाहे राजा प्रजा हो जाय या प्रजा राजा।

फिर यहाँ 'ईप्सिततम' और 'साधकतम' में भी अन्तर जाना जा सकता है। यह केवल कर्तृवाच्य में सम्भव है जब दोनों का साथ-साथ प्रयोग होता है क्योंकि कर्मवाच्य में 'कर्म' जो ईप्सिततम होता है उक्त होने पर प्रथमान्त हो जाता है। 'राम बाणेन वालिनं हतवान्' में 'वालि' को मारने की क्रिया में 'बाण' सबसे 'अधिक सहायक होता है किन्तु 'वालि' तो उस मारने की क्रिया का ईप्सिततम है। यहाँ क्रिया है मारना, उसका कर्त्ता है राम और राम का अभीष्ट है वालि जिसे वह मारना चाहते हैं। अब करण का सम्बन्ध जहाँ

क्रिया और कर्म से साक्षात् हो पाता है वहाँ कर्म का सम्बन्ध साक्षात् रहता है केवल क्रिया और कर्त्ता से। फिर यह भी द्रष्टव्य है कि प्रेरणार्थक क्रिया की दशा में अनुक्त कर्त्ता और करण पूर्ववत् रहते हैं या उनमें कुछ परिवर्त्तन होता है।[1] यदि मान लें कि 'धर्म' ने 'राम' को प्रेरित किया 'वालि' को मारने को तो 'धर्म' प्रयोजक कर्त्ता होगा और 'राम' प्रयोज्यकर्त्ता। प्रयोज्यकर्त्ता कुछ अवस्थाओं में कर्मत्व को प्राप्त करता है लेकिन वे शर्तें यहाँ नहीं हैं। अतः इसमें तृतीया ही होगी कर्मत्वप्रयुक्त द्वितीया के अभाव में। इस अर्थ में अनुक्त कर्त्ता की स्थिति से अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ। पूर्व की स्थिति में जहाँ केवल अनुक्त कर्त्ता रहने पर 'राम' पद में तृतीया होती है वहाँ प्रयोज्यकर्त्ता के सतत अनुक्त रहने के कारण ही तृतीया होती है। वस्तुतः अनुक्तकर्त्ता प्रयोज्यकर्त्ता नहीं भी हो सकता है लेकिन प्रयोज्यकर्त्ता अनुक्तकर्त्ता होगा ही। पुनः 'धर्मः रामेण वाणेन घातितवान् वालिनम्' में अनुक्तकर्त्ता की स्थिति से अन्य अन्तर यह हुआ कि प्रयोज्यकर्त्ता की इस स्थिति में कर्तृवाच्य ही सर्वथा अपेक्षित होगा। प्रेरणार्थक प्रत्यय लगाने के कारण क्रियापद में तो अन्तर होगा ही।

लेकिन यदि इस अवस्था में भी वाक्य को कर्मवाच्य में ही रखना चाहें तो 'धर्मेण रामेण वाणेन घातितो वाली' में जहाँ अन्य परिवर्त्तन आपाततः होंगे ही, प्रयोजककर्तृपद 'धर्म' में भी अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया हो जायगी। ऐसी दशा में तृतीयान्त 'राम' पद जहाँ प्रयोज्य अनुक्त है, 'धर्म' पद केवल अनुक्त है। साथ-साथ साधकतम 'वाण' पद की अभिन्नतया करणत्वेन तृतीया की प्राप्ति आकर्षक है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य को चाहे जितना तोड़ें-मरोड़ें, करण में सदा तृतीया होगी। किन्तु यदि करणकारक की विवक्षा नहीं करें और 'वाण' को भी कर्तृपद ही समझें तो 'वाणः हतवान् वालिनम्' से 'राम' को 'प्रयोजक' रखने पर 'रामः वाणेन वालिनं घातितवान्' ऐसा हो जायगा। और यदि इसे भी कर्मवाच्य में रखना चाहें तो स्वल्पपरिवर्त्तन से 'रामेण वाणेन घातितो वाली' ऐसा होगा जहाँ तृतीयान्त 'राम' पद केवल अनुक्त कर्त्ता समझा जायगा किन्तु 'वाण' प्रयोज्यअनुक्त कर्त्ता। वस्तुतः इस सूत्र में सम्पूर्णतः

---

१. 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता सणौ'—सूत्र से।

'अनभिहिते' अधिकार सूत्र की अनुवृत्ति के उपरान्त समन्वय करना चाहिये क्योंकि करणकारक में भी तो अनुक्त अवस्था में ही तृतीया विभक्ति होती है। इस प्रकार 'शतेन क्रीत' में 'शतन्' में अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया के अतिरिक्त करणे तृतीया भी मानी जा सकती है जिसके अभिधान स्वरूप 'शत्य' होता है। और 'दानीय' (विप्र) में तो स्पष्टत सम्प्रदानकारक का अभिधान हुआ है। अत सिद्धान्त रूप में 'अनभिहिते' का अधिकार कारक में सर्वत्र समझना चाहिये।

प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्। प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा याति।

प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति का उपसंख्यान हो। अर्थात इन शब्दों से भी तृतीया होगी। प्रकृत्यादि गण आकृतिगण है। व्यवहारानुकूल आकृत्या (आकृति में) प्रस्तुत प्रयोग के समकक्ष जितने भी शब्द होंगे वे सभी इस गण में समाविष्ट समझ जायेंगे। इस प्रकार किसी भी आकृतिगण में 'कौन-कौन से और कितने शब्द होंगे' इसका निर्धारण लौकिक व्यवहार ही करता है। यह निर्धारण कभी भी निश्चयात्मक नहीं हो सकता। उपर्युक्त उदाहरणों में सर्वत्र 'प्रकृति' आदि शब्दों में तृतीया हुई है। 'प्रकृत्या चारु' में 'प्रकृति' शब्द में कर्तृत्व तथा करणत्व के अभाव में षष्ठी प्राप्त थी। 'समेन एति' और 'विषमेण एति' में तृतीया की जगह क्रियाविशेषण की विवक्षा करने पर द्वितीया भी हो सकती है। फिर, 'द्विद्रोण' शब्द में 'धान्यक्रय' के साथ करण होने के कारण करणे तृतीया भी कही जा सकती है—इसका 'द्वयो द्रोणयोः समाहारः' ऐसा समाहारद्विगु में विग्रह हुआ और पात्रादिगणीय होने के कारण स्त्रीत्व का अभाव हुआ। और 'सुखेन याति', 'दुःखेन याति' की जगह क्रिया विशेषण की विवक्षा करने से 'सुखं याति', 'दुःखं याति' हो सकता है जिसका अर्थ होगा—'सुखं यथा स्यात् तथा याति', 'दुःखं यथा स्यात् तथा याति'। वस्तुत इन शब्दों में तृतीया होती है व्यवहार के बल पर ही। पाणिनि की त्रुटि को कात्यायन ने वार्तिक के द्वारा पूरा किया है।

दिवः कर्म च ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् चात् करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान् वा दीव्यति ।

√दिव् का साधकतम विकल्प से कर्मसंज्ञक भी होता है। दूसरे शब्दों में, √दिव् का ईप्सिततम विकल्प से करणसंज्ञक होता है। जब करण की दृष्टि से देखा जायगा तो उसके स्थान में कर्मसंज्ञा होगी और जब कर्म की दृष्टि से विचार किया जायगा तो कर्मसंज्ञा के विकल्पस्वरूप करणसंज्ञा होगी। यहाँ √दिव् का अर्थ केवल 'जूआ खेलना' है। यद्यपि बाद के सूत्र 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' से अपकर्ष[1] से यथेष्ट विकल्प के अर्थ का समावेश करने के लिये 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण किया जा सकता है तथापि प्रस्तुत सूत्र में 'चकार' का ग्रहण समुच्चय के लिये समझ सकते हैं। √दिव् के योग में जो कर्मसंज्ञा और करणसंज्ञा दोनों होती हैं वह केवल व्यवहार के बल पर ही। जब 'अक्ष' को 'ईप्सिततम' की तरह देखा जायगा तो उसमें कर्मसंज्ञा होगी और जब वह 'साधकतम' समझा जायगा तो वह करणसंज्ञक होगा। अर्थतः 'कौड़ी से खेलता है' ऐसा अर्थ लेने पर 'अक्षैः दीव्यति' और 'कौड़ी (को) खेलता है' ऐसा समझने पर 'अक्षान् दीव्यति' होगा।

904410

अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ।

सामान्यतः 'अपवर्ग' का अर्थ होता है 'समाप्ति', लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में पारिभाषिक अर्थ होगा 'फल की प्राप्ति'। कोई 'क्रिया' होती है किसी 'फल के लिये' और यदि उस फल की प्राप्ति हो जाय तो कालवाची या अध्ववाची शब्द में तृतीया होती है अत्यन्त संयोग रहने पर। यदि कोई क्रिया निरन्तर जारी है और फल की प्राप्ति नहीं हुई है तो वह क्रिया समाप्त नहीं समझी जायगी और चूँकि क्रिया की समाप्ति समझी जाती है फलप्राप्ति पर ही,

---

१. अष्टाध्यायी के क्रम में ऊपर के सूत्र से नीचे किसी अंश का लेना 'अनुवृत्ति' और नीचे के सूत्र से ऊपर लेना 'अपकर्ष' कहलाता है।

इसलिये केवल 'समाप्ति' का 'फलप्राप्ति' अर्थ लिया जायगा[१]। इस सूत्र में ऊपरवाले सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से सम्पूर्ण पदों की अनुवृत्ति होती है और तब वाञ्छित अर्थ निकलता है—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे, अपवर्गे तृतीया' अब दोनों सूत्रों में अन्तर होगा कि पूर्वसूत्र में जहाँ केवल क्रिया के सातत्यमात्र के द्योतित होने पर कालवाची और मार्गवाची शब्दों में द्वितीया होती है वहाँ यदि निरन्तर क्रिया से अभिलषित फल की प्राप्ति भी हो जाय तो इस सूत्र के अनुसार द्वितीया के स्थान में तृतीया विभक्ति होगी। 'अह्ना अनुवाकोऽधीत' का अर्थ होगा—दिनभर सतत 'अनुवाक' के अध्ययन की क्रिया जारी रखने के बाद उसके, समझ लेने के फल की प्राप्ति हो गई। फिर 'क्रोशेन अनुवाकोऽधीत' का अर्थ है—'कोस भर चलते-चलते अनुवाक का अध्ययन कर लिया और उसे समझ भी लिया।'

वस्तुतः फलप्राप्ति का अर्थ गम्यमान ही रहता है। यदि यह सूचित नहीं रहे या शक्ति के अनुसार अभीष्ट भी न रहे तो तृतीया न होकर द्वितीया होगी—लेकिन इस अवस्था में भी निरन्तर सन्निकर्ष रहना चाहिए। यदि यह भी नहीं रहे तो शक्ति के अनुसार द्वितीया के अतिरिक्त भी कोई अन्य विभक्ति हो सकती है। प्रत्युदाहरण में दिखलाया गया है कि मासभर पढ़ने की क्रिया जारी रखने पर भी फल की प्राप्ति नहीं हुई—'मासभर पढ़ा लेकिन समझा नहीं'। ऐसी अवस्था में 'मास' शब्द से द्वितीया मात्र हुई है। सूत्र में केवल कालवाची और भाववाची शब्द का ही ग्रहण इसलिये हुआ है कि केवल इन शब्दों में ही उपर्युक्त अर्थानुसार द्वितीया या तृतीया विभक्ति होती है क्योंकि 'काल' या 'स्थान' के परिमाण में ही (Only in the dimension of time or space) किसी क्रिया की निरन्तरता मानी जा सकती है। फिर 'स्थान' भी निरन्तर प्रचलित क्रिया से सम्बद्ध होना चाहिये। इसलिये वस्तुतः सङ्केतमात्र 'मार्ग' में है।

सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९। सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया

१ अपवर्ग का 'मोक्ष' भी अर्थ है क्योंकि वह ऐहिक तपस्या का फल है।

स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि विनाऽपि तद्योगं तृतीया । वृद्धो यूनेत्यादिनिर्देशात् ।

चूँकि केवल 'सह' के योग में ही नहीं, बल्कि 'सह' के अर्थवाले किसी भी शब्द के योग में तृतीया होती है, इसलिये भट्टोजिदीक्षित ने स्पष्ट किया 'सहार्थेन युक्ते' ऐसा कहकर। पुनः अव्ययभूत 'सह' के पर्याय कोई अव्यय शब्द ही यहाँ अभीष्ट हैं। अतः ऐसे शब्द 'साकं, सार्धं और समम्' के योग में भी तृतीया होगी। 'सत्रा' भी सहार्थ है। इसका उल्लेख दीक्षित ने नहीं किया है। यह तृतीया होती है केवल 'अप्रधान' में। जैसा स्पष्ट है ये शब्द सापेक्ष हैं और एक या एक तरह के पदार्थों को दूसरे या दूसरी तरह के पदार्थों से मिलाते हैं। इन दो पदार्थों में एक प्रधान होगा और दूसरा अप्रधान होगा। पदार्थों का प्रधानत्व या अप्रधानत्व शब्दशक्ति से निर्धारित होता है। एतदनुसार जो 'अप्रधान' रहेगा उसी में तृतीया होगी। इसके विपरीत, 'प्रधान' बराबर 'उक्त' रहेगा और उसमें प्रथमा को छोड़ दूसरी कोई भी विभक्ति नहीं हो सकती। निर्दिष्ट उदाहरण में 'पिता' प्रधान है और उसमें प्रथमा है। लेकिन 'पुत्र' अप्रधान है, अतः उसमें तृतीया है 'सह' शब्द के योग में। यहाँ यद्यपि अर्थशक्ति से 'पुत्र' ही प्रधान और 'पिता' ही अप्रधान मालूम पड़ता है किन्तु शब्दशक्ति से 'पुत्र' अप्रधान है और 'पिता' प्रधान। शब्दशास्त्र में अर्थशक्ति के ऊपर शब्दशक्ति का प्राबल्य समझा जायगा।

फिर सूत्र के अर्थानुसार 'सह' या उसके पर्य्यायवाची का शब्दतः प्रयोग आवश्यक नहीं है। यदि केवल 'सह' का अर्थ द्योतित हो तो भी 'अप्रधान' में तृतीया हो जायगी। इसलिये 'पुत्रेण आगतः पिता' प्रयोग उसी प्रकार युक्तियुक्त होगा जिस प्रकार 'पुत्रेण सह आगतः पिता'। पाणिनि के सूत्र 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'[1] से ऐसा ज्ञापित होता है। यदि 'सह' या उसके पर्य्याय का प्रयोग अनिवार्य्य रहता तो वे 'वृद्धो यूना सह'—ऐसा लिखते।

येनाङ्गविकारः ।२।३।२०। येनाऽङ्गेन विकृतेनाऽङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षि-

१. पाणिनि : १।२।६५।

सम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षि काणमस्य ।

जिस अंग के विकृत होने से अंगी (अर्थात् अंगवाले प्राणी) का विकार सूचित हो उस अंगवाची शब्द में तृतीया होती है । अंगांगिभाव में एक अंग होता है और दूसरा अंगी होता है जिसका वह अंग होता है । अंग के विकृत होने से अवश्य ही अंगी का विकार समझा जायगा क्योंकि 'अंग' का सम्बन्ध समवायरूप से 'अंगी' के साथ होता है । यहाँ वस्तुतः 'अङ्गानि अस्य सन्ति'— इसी अर्थ में 'अर्श आद्यच्'[1] से अच् प्रत्यय से नपुंसक 'अंग' शब्द से पुंल्लिंग शब्द की निष्पत्ति हुई है जिसका अर्थ 'शरीर', या विस्तृत अर्थ में 'प्राणी' होता है । ऐसा इसलिये चूँकि 'येन' वस्तुतः 'अंगेन' के लिये आया है (जो गम्यमान है) और 'जिस अंग के विकृत होने से अंग का विकार समझा जायगा'—ऐसा अर्थ लेना तो केवल पुनरुक्ति दोष होगा । यहाँ उदाहरण में 'सम्बन्ध' ही 'अक्षि' शब्द की तृतीया विभक्ति का अर्थ है । यह सम्बन्ध अंग और अंगी के बीच द्योतित होता है और वह अधिक स्पष्ट होता है 'काणत्व' गुण के आधार पर । यद्यपि एक आँख से हीन ही 'काण' (अर्थात् 'काना') कहलाता है तथापि 'द्वौ विप्रौ' की तरह 'अक्ष्णा काणः' न्याय्य है ।

लेकिन 'हीनता' ही केवल विकार नहीं है । प्रकृतिस्थ अवस्था से 'अधिक' भी कोई अंग 'विकृत' कहला सकता है । इसीलिये वामन ने कहा है— 'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः'[2] । मनुष्य को साधारणतः दो ही हाथ होते हैं पर यदि किसी को चार हाथ हों तो 'चार हाथ का होना' भी विकार कहा जायगा। इसी आधार पर 'स बाल आसीद् वपुषा चतुर्भुजः'[3] आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं जहाँ 'वपुष्' आदि में इसी सूत्र से तृतीया होती है । वस्तुतः इस सूत्र की परिधि में अंग और अंगी दोनों ही का साथ-साथ होना आवश्यक है । ऐसा यदि रहेगा तभी अंगवाची शब्द में तृतीया होगी अन्यथा नहीं (जैसा प्रायः

१. पाणिनि : ५।२।१२७।

२. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति : प्रायोगिक अधिकरण ।

३. शिशुपालवधम् : १।६६।

दाहरण से स्पष्ट है)। 'अक्ष्णा काणः' में 'अक्षि' अंगवाची शब्द हुआ और 'काण' शब्द काणत्व-विशिष्ट व्यक्ति 'अंगी' के लिये आया है। लेकिन 'अक्षि काणमस्य' में 'काण' शब्द 'अक्षि' को ही विशेषित करता है और इसीलिये अंगी के अभाव में अंगवाची शब्द में तृतीयात्व का अभाव हुआ। यहाँ प्रतिपादनार्थ 'अंगी का भाव हो'—केवल ऐसा कहने से काम नहीं चलता है क्योंकि प्रत्युदाहरण में 'अस्य' से भी अंगी का भाव स्पष्ट होता है। वस्तुतः जो विकार रहे वह अवश्य ही अंगी के लिये आये। सूत्र में प्रस्तुत उदाहरण में 'काणत्व'रूप विकार 'अंगी' पर आरोपित है। ऐसी स्थिति में जिस 'अंग' के विकार के कारण 'अंगी' का विकार द्योतित होता है उस अंगवाची शब्द में तृतीया हुई। इसके विपरीत, प्रत्युदाहरण में 'काणत्व'रूप विकार 'अंगी' पर आरोपित नहीं होकर 'अंग' पर ही आरोपित है। यह स्थिति व्यक्त होती है दोनों के एकविभक्तिकत्व से विशेष्य-विशेषणभाव के कारण।

इत्थम्भूतलक्षणे ।२।३।२१। कञ्चित् प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्व-विशिष्ट इत्यर्थः।

'इत्थम्भूतः' अर्थात् 'ऐसा हुआ'—ऐसा जिसके द्वारा लक्षित हो उस लक्षणवाची शब्द में तृतीया होगी। 'लक्ष्यते अनेन तल्लक्षणम्'। अतः लक्षण का अर्थ यहाँ 'चिह्न' है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जहाँ लक्ष्यलक्षण-भाव या ज्ञाप्यज्ञापकभाव रहे वहाँ जो 'लक्षण' या 'ज्ञापक' रहे जिससे किसी 'लक्ष्य' या 'ज्ञाप्य' भाव की सिद्धि होती है तो उसमें तृतीया होती है। उदाहरण में 'तापसत्व' प्रकार (अर्थात् 'तापस' होना) लक्षित होता है 'जटाओं' से। 'जटा' चिह्नवाची शब्द है, अतः उसमें तृतीया हुई। इस प्रकार 'जटाभिस्तापसः' का अर्थ हुआ 'जटाओं के द्वारा जानने योग्य जो है तपस्वी'। दूसरे क्रम में 'तपस्वी तपस्वी है' ऐसा 'जटाओं' से ही जाना जाता है। लेकिन यदि 'तापसत्व' ज्ञान के लिये 'जटा' को साधकतम समझें तो करण-संज्ञा करने पर तृतीया की सिद्धि नहीं हो सकती ? वस्तुतः करणत्व की विवक्षा करने पर तृतीया हो सकती है लेकिन यह कुछ टेढ़ा रास्ता है। फिर भी, यदि

करणत्व की विवक्षा नहीं की जाय तो इत्थंभूतलक्षणभाव के सिवा किसी भी हालत में प्रस्तुत प्रसंग में तृतीया की प्राप्ति नहीं हो सकती। पर ऐसी बात नहीं कि करणतृतीया इत्थम्भूत तृतीया की पूर्त्ति हो सकती है या, इत्थम्भूत तृतीया का काम करणतृतीया से ही चल सकता है। ये दोनों दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं—इत्थम्भूत तृतीया जहाँ करीब-करीब क्रियायोग के बिना ही होती है, करणतृतीया सतत क्रियायोग में होगी क्रियान्वयित्व के कारण करण के कारकत्व के हेतु।

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ।२।३।२२। संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते।

सम् पूर्वक √ज्ञा के कर्म में विकल्प से तृतीया होती है। जब तृतीया नहीं होगी तो द्वितीया होगी क्योंकि साधारणतः कर्म में द्वितीया विभक्ति होती ही है। इस कारण यह कि जहाँ केवल 'कर्म' कहा जाता है वहाँ बराबर 'अनुक्त कर्म' ही समझा जाता है और अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है। यौगिकतया 'अन्यतरस्याम्' का 'अन्यतरस्यां विभक्तौ' के लिये, लेकिन कालक्रम में 'विभक्तौ' लिखने की आवश्यकता नहीं रहने पर तथा उसको गम्यमान ही समझने पर केवल 'अन्यतरस्याम्' लिखा जाने लगा। यह अब विभाषा के अर्थ में अव्ययवत् रूढ़ हो गया है। सूत्र में तृतीया विभक्ति का जो विकल्प हुआ है वह द्वितीया के अपवाद रूप में ही। इसलिये 'पितरं सञ्जानीते' तो होगा ही, 'पित्रा सञ्जानीते' भी होगा। वस्तुतः सूत्र के अर्थानुसार द्वितीयान्त के अपवादस्वरूप तृतीयान्त का कर्म में प्रयोग विचित्र सा लगता है।

हेतौ ।२।३।२३। हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः।

हेत्वर्थक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। 'हेतु' यहाँ लौकिक अर्थ में ही लिया जायगा न कि 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' सूत्र में सूचित पारिभाषिक अर्थ (Technical Sense) में। दूसरे शब्दों में, फल का साधनभूत कारण

पर्याय 'हेतु' ही विवक्षित है। वस्तुतः 'हेतु' शब्द में तृतीया नहीं होगी, बल्कि वह हेतु के अर्थ में प्रयुक्त शब्द में होगी। हेतु से प्रयोजक हेतु यहाँ इसलिये नहीं समझा जायगा क्योंकि वैसा यदि अभीष्ट रहता तो अलग करके तृतीया की सिद्धि के लिये यह सूत्र बनाने की जरूरत नहीं पड़ती, उसकी सिद्धि 'अनुक्त कर्त्ता' की तृतीया से ही हो जाती। फिर, लौकिक अर्थ में भी हेतुजन्य तृतीया की सिद्धि करणजन्य तृतीया से नहीं होगी। इसलिये पृथक् सूत्र की आवश्कता पड़ी। इस प्रसंग में हेतु और करण में अन्तर स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है। 'द्रव्यादि' में 'आदि' से द्रव्य के अतिरिक्त 'गुण' और 'क्रिया' विवक्षित हैं। जाति का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि 'समूह' में 'हेतु' का अर्थ कोई विशेष तात्पर्य्य नहीं रखता। अर्थतः 'हेतु' एक तो 'द्रव्य', 'गुण' एवं 'क्रिया' के साथ पाया जाता है (अर्थात् द्रव्य, गुण या क्रिया के प्रति जो 'जनक' हो वह 'हेतु' कहलाता है) और दूसरी ओर, जिसमें कोई व्यापार (अर्थात् क्रियाविशेष) या तो साधनभूत रहे या रहे ही नहीं, उसे भी 'हेतु' कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में, हेतु 'द्रव्य' या 'क्रिया' का जनक होता है और उसके साथ 'द्रव्यादि' का जनकजन्य भाव सम्बन्ध रहता है। फिर जहाँ तक व्यापार अर्थात् क्रिया का प्रश्न है, वह (हेतु) सव्यापार और निर्व्यापार दोनों हो सकता है। इसके विपरीत, करण केवल 'क्रिया' का विषय हो सकता है। अतः करणत्व के लिये 'क्रियाजनकत्व' आवश्यक है (क्योंकि जब तक उसमें क्रियाजनकत्व नहीं रहेगा तब तक वह कारक नहीं हो सकता)। इसलिये यह भी एक विषय है जो 'करणत्व' से द्रव्यजनकत्व और गुणजनकत्व को कम-से-कम बहिष्कृत कर देता है और प्रमाणित करता है कि करण तृतीया से ही हेतु तृतीया का काम नहीं चल सकता है। उसी प्रकार 'करण' सव्यापार होगा, इसकी कोई निश्चित क्रिया होगी। अतः अन्तर यह भी हुआ जहाँ 'हेतु' सव्यापार और निर्व्यापार दोनों हो सकता है, करण केवल सव्यापार ही होगा 'दण्डेन घटः' का विशद अर्थ है—'दण्ड के कारण घट'। यहाँ कोई सञ्चालनादि व्यापार विवक्षित हो न हो, साक्षात् क्रियान्वयित्व के अभाव के कारण करणसंज्ञा नहीं होगी। वस्तुतः यदि कोई क्रिया विवक्षित या कल्पित भी रहेगी तो उसका 'दण्ड' के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होगा जिससे उसमें (अर्थात् 'दण्ड

में) करणत्व की आशंका भी तब तक की जाय। यह द्रव्यविषयक हेतुत्व का उदाहरण है। यहाँ 'द्रव्य' जो है 'घट' उसके प्रति 'दण्ड' हेतु है। यहाँ यद्यपि 'दण्ड' में व्यापार है, फिर भी क्रियाजनकत्व का अभाव है। किन्तु यदि 'दण्डेन घटं सञ्चालयति कुम्भकार' ऐसा उदाहरण लें तो 'दण्ड' करण होगा क्योंकि उसमें तब क्रियाजनकता आ जाती है और क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी है।

फिर, क्रियाविषयक हेतु के उदाहरण में—'पुण्येन दृष्टो हरि' में 'हरि दर्शन'रूप क्रिया का हेतु है 'पुण्य', अत उसमें तृतीया हुई। यहाँ 'हरि दर्शन' के कारण 'क्रियान्वयित्व' सभव भी है तो व्यापारवत्त्व के अभाव में करणत्व नहीं हुआ। इससे पता चलता है कि करणत्व के लिए व्यापारवत्त्व और क्रियान्वयित्व दोनों ही आवश्यक हैं। परन्तु जब 'पुण्य' शब्द से यज्ञादि का विवक्षित होंगे तो उसमें 'व्यापारवत्त्व' रहेगा और इसलिए करणसंज्ञा हो जायगी। गुणविषयक हेतु का उदाहरण दीक्षित ने अपनी वृत्ति में नहीं दिया है, तत्त्वबोधिनीकार ने दिया है—'पुण्येन गौरवर्णः' और बालमनोरमाकार ने—'पुण्येन ब्रह्मवर्चसम्' उदाहरण दिया है जिनमें क्रमश 'गौरवर्णत्व' और 'ब्रह्मवर्चसत्व' का हेतु 'पुण्य' है। इस प्रसंग में यदि 'जटाभिस्तापस' में तापसत्वगुण का हेतु 'जटा' को समझें, तो नहीं—क्योंकि यहाँ ज्ञाप्यज्ञापक भाव विवक्षित है और 'इत्थम्भूतलक्षणे' सूत्र से तृतीया प्राप्त हो जाती है, अत ऐसी स्थिति में हेतु—तृतीया के लिए कोई अवकाशस्थान नहीं रह जाता है पुन कोई-कोई शंका करते हैं कि चूँकि 'हेतु' द्रव्यादिसाधारण होता है इसलिये 'बाणेन हतः' आदि प्रयोग में 'हेतौ' सूत्र से ही काम चल जाता 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र में 'करण' का ग्रहण नहीं भी किया जा सकता था वस्तुत 'करणाधिकरणयोश्च'[1] सूत्र के लिये करणसंज्ञा आवश्यक है और उससे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता है। फिर अन्य लोग शंका उठाते हैं कि क्रिया का साधकतम जो व्यापारपरत्वेन विवक्षित हो वह यदि 'हेतु' नहीं तो करण ह हो। वस्तुत द्रव्य के साधकतम 'दण्डादि' का तो व्यापारवत्त्व रहने पर भ हेतुत्व रहता ही है। इस प्रकार 'रामेण बाणेन हत' आदि में हनन क्रिया में

---

1. पाणिनि : ३।३।११७।

'बाणादि' जब 'निमित्त' के रूप में विवक्षित होगा तब 'हेतौ' सूत्र से ही तृतीया समझी जायगी। लेकिन 'बाणादि' के व्यापार से साध्य 'प्राणवियोग' यदि विवक्षित हो तो व्यापारवत्त्व के कारण हेतुत्व की विवक्षा के अभाव में 'करण' प्रयुक्त तृतीया ही होगी।

फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः।

इतना ही नहीं इस प्रसंग में लौकिक अर्थ में जो 'फल' कहलाता है वह भी 'हेतु' हो सकता है। उदाहरणस्वरूप साधारणतया 'गुरुकुल' में रहने के प्रति 'अध्ययन' हेतु प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत, वहाँ रहने से ही अध्ययन होता है। फिर भी, वह 'रहने' के प्रति हेतु भी हो सकता है—किस हेतु से गुरुकुल में रहता है ?—तो अध्ययन के हेतु से ! लेकिन जब फलरूप अध्ययन में इस तरह के हेतुत्व की विवक्षा नहीं करके 'अध्ययन' के लिये ही 'रहना' विवक्षित होता है तो तादर्थ्य में चतुर्थी होती है। इस प्रकार वस्तुतः 'तादर्थ्य चतुर्थी' के साथ यह 'हेतुतृतीया' विकल्पित होती है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों का कथन है कि 'अध्ययनेन वसति' उदाहरण में 'दण्डहेतुक घट' की तरह 'अध्ययनहेतुक निवास' अर्थ समझने पर भी विशेषता यह होती है कि जहाँ अध्ययन का फल के साथ अभेदसंसर्ग रहने पर भी 'उपकारकत्व' के साथ केवल 'निरूपकता' समझी जाती है (और ऐसी हालत में उसका अर्थ होगा—'फल से अभिन्न अध्ययन से निरूपित उपकारकत्व के आश्रयरूप निवसन का अनुकूल व्यापार) वहाँ 'दण्डेन घटः' का अर्थ होगा—'दण्डनिष्ठ उपकारकत्व से निरूपित उपकार्यत्व का आश्रय घट'। वस्तुतः उपकार्य ही साध्य है और वही फल भी है।

लेकिन 'अलं श्रमेण' में किसी भी 'कार्य' या 'क्रिया' का नामोनिशान नहीं है और ऐसे स्थल पर करणत्व और हेतुत्व दोनों ही संभव नहीं दीखते हैं। फिर 'श्रम' शब्द में तृतीया कैसे हुई ? वस्तुतः यदि कोई क्रिया गम्यमान भी

रहे तो भी यह कारकविभक्ति की प्रयोजिका होती है। अर्थात्, यदि किसी क्रियाविशेष के रहने पर कोई कारकविशेष संभव होता है और उसमें तत्प्रयुक्त नियमित विभक्ति होती है तो उस क्रियाविशेष के गम्यमान रहने पर भी वही कारक होगा और तत्प्रयुक्त नियमित विभक्ति होगी जो उसके स्पष्टतया उक्त रहने पर होती थी। जैसा उपर्युक्त उदाहरण के विशदीकरण में स्पष्ट है, यहाँ 'साधन' क्रिया छिपी हुई है और 'भूषण पर्याप्ति शक्ति-वारण' आदि अर्थों में से[1] 'अलम्' का अर्थ यहाँ 'वारण' (अर्थात् 'निषेध') है। फिर उदाहरण में गम्यमान 'साधन' क्रिया के बल पर ही 'श्रम' शब्द में करणप्रयुक्त तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। ऊपर भूमि को जोतने कोड़ते व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है। लेकिन 'श्रम' का साध्य तो 'धान्यादि' है। फिर यह 'श्रम' का फल भी है। अतः किसी क्रिया का अभाव होने पर भी 'श्रम' में करणत्व क्यों हुआ? वस्तुतः गम्यमान 'साधन' क्रिया में जो प्रकृतिभूत धातु (Radical root) है उसी का फल 'उत्पादन' है। इसलिए 'श्रम' का करणत्व हुआ उसी 'साधन' क्रिया के प्रति, और उससे करण तृतीया हुई। इसमें 'श्रम' और साधन क्रिया में जो अभेद बताया गया है वह निराधार है क्योंकि 'श्रम' शब्द से धान्यादि की उत्पत्ति के अनुकूल कर्षणादि-व्यापार विवक्षित होता है लेकिन 'साधन' क्रिया से केवल धान्यादि की उत्पत्ति विवक्षित होती है। पुनः दूसरे उदाहरण में 'शतेन शतन' में वीप्सा (Frequency) के कारण द्विरुक्ति है। 'शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः' का अर्थ है—'एक एक सौ की संख्या में (परिच्छिन्न करके) बच्चों को दूध पिलाता है'। यहाँ भी 'शत' शब्द के साथ ही 'परिच्छेदन' क्रिया गम्यमान है। 'शत' की संख्या का परिच्छेदन' की क्रिया के प्रति करणत्व है, अतएव 'शत' शब्द में करणत्व के कारण तृतीया हुई है। वस्तुतः इन उदाहरणों में गम्यमान की क्रिया कारक विभक्ति की प्रयोजिका होती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रूयमाण क्रिया (अर्थात् वह क्रिया जो स्पष्टतः प्रयुक्त है) कथित विभक्ति की प्रयोजिका स्वतः ही होगी।

---

१. अलं भूषणपर्याप्ति-शक्ति-वारणवाचकम्—इत्यमरकोष।

अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया । दास्या संयच्छते कामुकः । धर्मे तु—भार्यायै संयच्छति ।

अशिष्टता के व्यवहार में √दाण् के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। वस्तुतः चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होने का मतलब यहाँ यह है कि जहाँ साधारणतः चतुर्थी विभक्ति होनी चाहिये थी वहाँ वृत्तिस्थ शर्तों के रहने पर तृतीया ही होगी। एतदनुसार निर्दिष्ट उदाहरण में दानार्थक √दाण् के योग में जहाँ 'दासी' शब्द में सम्प्रदान में चतुर्थी होनी चाहिये वहाँ इस वार्तिक के अनुसार प्रयोग की विचित्रता से तृतीया हुई है। अर्थ है— 'कामुक दासी को देता है'। 'कामुक' शब्द से अर्थ ध्वनित होता है कि 'कामुक सम्भोगादि इच्छा से दासी को टेका करने में कुछ द्रव्यादि देता है'। दासी के साथ 'रति' आदि का व्यापार अशिष्ट है। अतः ऐसा द्योतित होने पर ही तृतीया की प्राप्ति हुई है यहाँ 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे'[१] सूत्र से चतुर्थ्यर्थ तृतीया का प्रयोग होने पर आत्मनेपदत्व हुआ तथा 'पाघ्राध्मा—'[२] सूत्र से √दाण् का यच्छ् आदेश हुआ। अन्यथा प्रत्युदाहरण में चतुर्थ्यर्थ तृतीया के अभाव के कारण परस्मैपद हुआ है। अपनी भार्या को सम्भोगार्थ भी आकर्षणार्थ द्रव्यादिदान अशिष्ट नहीं है, अतः यथावत् 'भार्या' शब्द में चतुर्थी हुई है।

—:०:—

---

१. पाणिनि : १।३।५५।
२. : ७।३।७८।

सम्प्रदानकारक : चतुर्थी विभक्ति

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् । १ । ४ । ३२ । दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

कर्म के द्वारा कर्त्ता जिसको चाहता है वही सम्प्रदान कहलाता है। कर्म का मतलब यहाँ स्पष्टतः 'दानक्रिया' के कर्म से है क्योंकि 'सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्'—इस निर्वचन के अनुसार सम्प्रदान संज्ञा मुख्यतः केवल √दा के योग में होती है। विस्तार की दृष्टि से देखने पर अनेक तत् तत् परिस्थितियों में भी होती है। फिर, सूत्र में 'अभिप्रैति' लट् प्रथमपुरुषैकवचनान्त क्रिया स्पष्टतः 'कर्त्ता' के लिये है जो दानक्रिया के कर्त्ता के रूप में अभीष्ट है। अतः अर्थतः दान क्रिया के कर्म के द्वारा 'कर्त्ता' जिसको भोक्तृत्व के रूप में चाहता है वही सम्प्रदान होता है। विशेष, यहाँ दान क्रिया से जो अभीष्ट है वही दान क्रिया का भोक्ता होता है। अतः जिसको 'दान' दिया जाता है वही उस 'दानक्रिया' के विषय का भोक्ता होगा। इसलिये 'दानक्रिया' के निमित्तभूत के लिये भोक्तृत्व की कल्पना भी अर्थान्तर विषय है क्योंकि यही स्थिर करता है कि 'फिर वापस नहीं लेने के लिये अपना वैषयिक अधिकार (अर्थात् स्वत्व का अधिकार) हस्तान्तरित करके जिसको दिया जाय उसका अधिकार जो दिया जाय उसपर उत्पन्न करना' ही 'दान' है। यही कारण है कि 'रजकाय वस्त्रं ददाति' न होकर 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' होना चाहिये क्योंकि 'कर्त्ता' अपना 'वस्त्रगत स्वत्व' रजक को हस्तान्तरित नहीं करता है और न वस्त्र लेने मात्र से रजक का उस पर 'स्वत्व' उत्पन्न हो जाता है। अतः √दा का प्रयोग ऐसी स्थितियों में भाक्त (अर्थात् लाक्षणिक या गौण) होता है।[1] यह वृत्तिकार का मत है।

---

१. दानं चापुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्। अतएव रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ न भवति। तत्र हि ददातिर्भाक्तः।

भाष्यकार के अनुसार उपर्युक्त 'दान' की परिभाषा के विषय में दुराग्रह नहीं करना चाहिये कि विना 'स्वत्व' हस्तान्तरित किये 'दान' हो ही नहीं सकता है क्योंकि 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' आदि प्रयोग तो होते ही हैं। अतः 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में भी 'रजक' शब्द में षष्ठी शेषत्व विवक्षा से समझनी चाहिये। पुनः शेषत्व का दूसरा दृष्टिकोण भी है जो इसी शेषत्वविवक्षा से सम्बद्ध है। इसका निराकरण शेषित्व को समझे विना नहीं हो सकता है। कर्मसंज्ञक 'गो' आदि विषय ही तो 'शेष' हैं जिसकी 'कर्म' में 'शेषे षष्ठी' की विवक्षा होती है। और जिसके लिये इस गवादि द्रव्य को भोक्तृत्वरूप में 'कर्त्ता' चाहता है वह 'शेषिन्' होगा। अतः 'शेषित्व' भोक्तृत्व ही है और 'शेषत्व' भोज्यत्व। 'गो' के प्रति 'विप्राय गां ददाति' उदाहरण में 'विप्र' शब्द का शेषित्व है, इसलिये 'विप्र' सम्प्रदानसंज्ञक हुआ। किन्तु 'अजां नयति ग्रामम्' में 'अजा' के प्रति 'ग्राम' के शेषित्व का अभाव है, अतः यहाँ सम्प्रदानसंज्ञा की शंका नहीं उठाई जा सकती है। फिर 'सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्—परिभाषा के अनुसार जिसको कुछ दिया जाय वही 'विप्रादि' सम्प्रदानसंज्ञक होता है। किन्तु शब्दशास्त्र की दृष्टि से 'देय द्रव्य का उद्देश्य' सम्प्रदान होता है। वस्तुतः दोनों में कोई वैषयिक अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में 'पयो नयति देवदत्तस्य' में देवदत्त के 'पयो' नयन का उद्देश्य होने पर भी सम्प्रदानत्व नहीं होगा क्योंकि 'पयस् के दानकर्म का अभाव है।

चतुर्थी सम्प्रदाने ।२।३।१३। सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् । विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दानीयो विप्रः ।

सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। 'विप्राय गां ददाति' में 'विप्र' 'गोरूप 'देय' द्रव्य का उद्देश्य है। अतः सम्प्रदान होने के कारण उसमें चतुर्थी हुई है। फिर दानक्रिया के कर्म 'गो' से कर्त्ता 'विप्र' के भोक्तृत्व की इच्छा करता है। अर्थतः 'गो' देकर 'कर्त्ता' चाहता है कि 'विप्र'विशेष उसका उपभोक्ता हो, उसका उपयोग करे। इसलिये भी उसका सम्प्रदानत्व है। लेकिन सम्प्रदान-संज्ञा भी 'अनभिहिते' सूत्र के अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction) में ही है। इसका मतलब यह कि अनभिहित (अर्थात् अप्रधान) रहने पर ही 'सम्प्रदान'-

चतुर्थी होगी क्योंकि अभिहित रहने पर तो सर्वथा प्रथमा ही होती है। दूसरे शब्दों में केवल प्रातिपदिकार्थ अभिहित या उक्त होता है। 'उक्त' सम्प्रदान के वृत्तिस्थ उदाहरण में कृत् प्रत्यय द्वारा अभिधान हुआ है। 'ददाति विप्राय' ऐसा अनभिहितावस्था में हो सकता है। लेकिन जब हम √दा में कृत् के अन्तर्गत अनीयर् प्रत्यय लगा देते हैं तो 'दानीय' शब्द के निष्पन्न होते ही 'विप्र' भी साथ-साथ प्रथमान्त हो जाता है—'दानीय: विप्र:'। यह इसलिये होता है चूँकि 'दानीय' का अर्थ ही हो जाता है—'दान देने योग्य', 'जिसको दान दिया जाय'—अर्थात् व्याकरण की भाषा में—'दान का उद्देश्य'। अतः यदि सम्प्रदान का अर्थ अनीयर् प्रत्यय में ही आ जाता है तो फिर 'विप्र' शब्द में सम्प्रदानजन्य चतुर्थी रखना निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी है। लेकिन साथ-साथ यह बतला देना अनावश्यक नहीं होगा कि सभी कृदन्त और तद्धित प्रत्यय हर परिस्थिति में अभिधान नहीं कर सकते हैं। फिर यहाँ 'विप्र' शब्द उक्त होता है इसकी व्याख्या हम अन्य प्रकार से भी कर सकते हैं। वस्तुतः 'विप्र' शब्द का सम्प्रदानत्व (जिसके कारण उसमें चतुर्थी होती है) अनीयर्-प्रत्ययान्त 'दानीय' शब्द के द्वारा उक्त हो जाता है और इस हालत में जबकि चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदानत्व हट जाने से हट जाती है तो 'विप्र' शब्द पुनः प्रातिपदिक हो जाता है और उसमें प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा हो जाती है।

क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्। पत्ये शेते।

'क्रिया' के द्वारा भी यदि 'कर्ता' क्रिया को मोक्तृत्व रूप में चाहे तो जिसे चाहे वह 'सम्प्रदान' होगा और उसमें चतुर्थी होगी। पूर्वस्थल में 'कर्म के द्वारा कर्ता किसी को चाहे'—ऐसा कहा गया था। इसका तात्पर्य यह है कि उस परिस्थिति में 'कर्ता' और 'क्रिया' का ईप्सिततम वही (अर्थात् कर्म ही) था और इसलिये 'कर्मद्वारक ही सम्प्रदानत्व की विवक्षा हो सकती थी। इसके विपरीत, यहाँ क्रिया के द्वारा सम्प्रदानत्व का विवक्षा बतलाई गई है। यह इसलिये कि चूँकि सूत्र पहले केवल सकर्मक धातुओं की परिधि में बँधा था किन्तु इस वार्तिक के अनुसार अकर्मक धातु का प्रयोग रहने पर भी सम्प्रदानत्व संभव है और वह धात्वर्थ क्रिया के द्वारा ही। इस तरह इस वार्तिक की सार्थकता सिद्ध होती है। कोई कोई शंका करते हैं कि 'क्रियार्थोपपदस्य च

कर्मणि स्थानिनः'[1] सूत्र से ही 'पतिम् अनुकूलयितुं शेते' ऐसा अर्थ लेने पर 'पति' शब्द में चतुर्थी सिद्ध हो जाती है। भाष्यकार के मत में, वस्तुतः 'कर्मणा यमभिप्रैति—' सूत्र से ही यह चतुर्थी सिद्ध होती है क्योंकि संदर्शन प्रार्थन तथा अध्यवसाय के द्वारा आप्यमानत्व के कारण क्रिया भी तो कृत्रिमरूप में कर्म ही है।[2] इस हालत में 'ददाति' के कर्म की तरह 'शेते' क्रिया के कर्म के अभाव के हेतु 'क्रियया'यमभिप्रैति—' ऐसा नहीं कहना चाहिये था क्योंकि इस प्रकार तो 'कटं करोति', 'ओदनं पाचति' आदि में भी सम्प्रदानत्व की संभावना हो सकती थी और विकल्प से 'कटाय करोति' आदि प्रयोग हो सकते थे। इसके उत्तर में पूर्वोक्त सिद्धान्त के बल पर ही हम कह सकते हैं कि ऐसी-ऐसी अवस्था में तो कर्म की स्थिति स्पष्ट है लेकिन यह वार्तिक बना है अकर्मक धातु के प्रयोग की स्थिति के लिये जहाँ क्रिया ही प्रधान रहती है।

फिर यह भी शंका की जा सकती है कि 'दान' के 'तदर्थ' (अर्थात् विप्रार्थ—'विप्र' के लिये) होने के कारण 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' से ही काम चल जाता! लेकिन नहीं! वस्तुतः 'दान' क्रिया के लिये ही 'सम्प्रदान' (देय द्रव्य का उद्देश्य) होता है न कि दान क्रिया उसके लिये है क्योंकि कारकविशेष ही क्रियाविशेष के लिये होता है। अतः फलित होता है कि क्रिया का उद्देश्य भी सम्प्रदान होता है न कि केवल कर्म का। फलतः इस विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि अकर्मक क्रिया का उद्देश्य भी सम्प्रदान-संज्ञक होता है। इसके विपरीत, इस स्थिति में सकर्मक क्रिया निरवकाश हो जाती है क्योंकि सकर्मक की अवस्था में सम्प्रदान कर्मद्वारक ही होगा।

यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा। पशुना रुद्रं यजेत। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

---

१. पाणिनि: २।३।१४।

२. महाभाष्यम्: १।४।३ क्रियाऽपि कृत्रिमं कर्म। न सिद्धयति। कर्तुरीप्सिततमं कर्मेत्युच्यते। कथं च नाम क्रियया क्रियेप्सिततमा स्यात्? क्रियाऽपि क्रियये-प्सिततमा भवति। कया क्रियया? सन्दर्शनक्रियया प्रार्थयतिक्रिययाऽध्यवस्यति-क्रियया च।

कात्यायन[1] के अनुसार यह वार्तिक वैदिक व्याकरण से प्रभावित है। अर्थात् इसका उपयोग वैदिक प्रयोग के अन्तर्गत होना चाहिये। एतदनुसार साधरणतया जहाँ कर्मकारक होना चाहिये उसकी जगह करणकारक होगा और सम्प्रदान की जगह कर्मसंज्ञा हो जायगी। उदाहरण में 'पशुं रुद्राय यजते' की जगह 'पशुना रुद्रं यजते' दीख पड़ता है जहाँ 'पशु' शब्द की कर्म द्वितीया के बदले करणजन्य तृतीया और 'रुद्र' की सम्प्रदानचतुर्थी के स्थान में कर्म द्वितीया हो गई। कहीं-कहीं 'यजे: कर्मण —' ऐसा कहकर स्पष्ट कर दिया हुआ है कि केवल $\sqrt{}$यज् के साथ ही उपर्युक्त परिवर्त्तन लागू होगा। इस वार्तिक का प्रसंग इसलिये आया है चूंकि $\sqrt{}$यज् दानार्थक है जैसा उदाहरण से स्पष्ट है। फिर यह वार्तिक तभी लागू होगा जब एक ही वाक्य में 'कर्म' और 'सम्प्रदान' दोनों हों।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।१।४।३३। रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलापः रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

रुच्यर्थक धातुओं का प्रीयमाण (अर्थात् जिसको 'प्रिय' लगे वह) सम्प्रदानसंज्ञक होता है और उसमें चतुर्थी होती है। 'रुच्यर्थक' से $\sqrt{}$रुच् के अर्थवाले सभी धातुओं का ग्रहण इस सूत्र के अन्तर्गत हो जाता है, उक्त उदाहरण में 'भक्ति' हरि को अच्छी लगती है, इसलिये 'हरि' प्रीयमाण हुआ और उसमें सम्प्रदाने चतुर्थी हुई। दूसरे के लिये जो अभिलाषा हो उसे ही 'रुचि' कहते हैं। अर्थात् जिसको 'रुचि' लगे वह कर्त्ता नहीं हो सकता है $\sqrt{}$रुच् का। प्रस्तुत उदाहरण में इसी प्रकार 'हरि' में जो 'रुचि' या प्रीति है उसका कर्त्ता (Subject) 'भक्ति' है। अर्थात् 'भक्ति ही हरि में प्रीति उत्पन्न करती है भक्त के प्रति'। प्रत्युदाहरण में 'प्रीयमाण' है देवदत्त, न कि 'पथ', इसलिये 'देवदत्त' शब्द में ही सम्प्रदान में चतुर्थी हुई। $\sqrt{}$रुच् दीप्तार्थ

---

1. इदं वार्तिकं छान्दसमेवेति—कैयट।

भिप्रीतौ' से 'प्रीयमाण' के द्वारा यहाँ 'अभिप्रीति' अर्थ ही निर्धारित होता है। इसके विपरीत 'दीप्ति' अर्थ में √रुच् के योग में समानसंज्ञा के लिये कोई अवकाशस्थान नहीं है, ऐसी स्थिति में 'प्रीयमाणत्व' शर्त (Condition) रहती है जैसे 'दिवाकरः रोचते दिवि'।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।१।४।३४। एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्। देवदत्ताय श्लाघते पथि।

√श्लाघ्, √ह्नुङ्, √स्था तथा √शप् के प्रयोग में ज्ञीप्स्यमान (अर्थात् जिसको तत्-तत् क्रिया के द्वारा ज्ञापित करने की इच्छा की जाय वह) संप्रदानसंज्ञक होता है। √ज्ञा से प्रेरणार्थक (णिच्) प्रत्यय के उपरान्त कर्मवाच्य में सन्नन्त (इच्छार्थक) प्रत्यय से शानच् करने पर 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द निष्पन्न होता है। इसमें श्लाघन, ह्नवन आदि क्रियाओं से अपना आशय जताने की इच्छा रहना आवश्यक है। √स्था से 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च'[1] सूत्र से विशेष अर्थ में आत्मनेपद हुआ है। इसका मतलब यह कि परस्मैपदीय √स्था के प्रयोग में 'ज्ञीप्स्यमान' सम्प्रदान नहीं होगा। शायद इस अर्थ में परस्मैपद में इस धातु का प्रयोग भी नहीं हो सकता है और न कोई 'ज्ञीप्स्यमान' ही संभव हो सकता है। बाकी जो कोई धातु परस्मैपदीय हो सकते हैं, उनके उस प्रकार के प्रयोग में भी सम्प्रदानत्व नहीं होगा क्योंकि यदि ऐसा उद्देश्य रहता कि परस्मैपदीय और आत्मनेपदीय सभी रूपों के प्रयोग में 'ज्ञीप्स्यमान' का सम्प्रदानत्व होगा तो जिन धातुओं के परस्मैपदीय रूप संभव होते हैं, उनके वे रूप भी उदाहरण में दिखला दिये जाते। उदाहरण में 'कृष्ण' ज्ञीप्स्यमान हैं क्योंकि गोपी श्लाघन आदि निर्दिष्ट क्रियाओं के द्वारा उसे ही अपना प्रेमरूपक आशय जताना चाहती है : कामभावना के कारण कृष्ण की प्रशंसा करती है, सपत्नी आदि को उससे

---

१. पाणिनिः १।३।२३।

छिपाकर प्रेम का आशय उसके प्रति व्यक्त करती है, कृष्ण के लिये निर्दिष्ट स्थान में जाती है और वादा पूरा नहीं होने के कारण कृष्ण को कोसती है। वस्तुतः कोसकर भी प्रेम ही जताती है, अतः सर्वत्र 'कृष्ण' ही सम्प्रदान हुआ और उसमें चतुर्थी हुई। लेकिन रास्ते में यदि कोई 'देवदत्त' की प्रशंसा करे तो प्रशंसा 'देवदत्त' की होगी न कि रास्ते की। 'पथिन्' तो केवल अधिकरण होगा और उसमें सप्तमी होगी। इसीलिये प्रत्युदाहरण में 'देवदत्त' में ही सम्प्रदानत्व के कारण चतुर्थी दिखलाई गई है। फिर प्रत्युदाहरण से यह भी ज्ञापित होता है कि 'ईप्स्यमान' कोई भी निर्जीव पदार्थ नहीं हो सकता है और वह अवश्य ही विवेकशील प्राणी, प्रायः मनुष्य ही होगा। पुनः सूत्र से यह भी स्पष्ट है कि केवल निर्दिष्ट धातुओं के योग में ही 'ईप्स्यमान' सम्प्रदान होगा न कि इनके पर्याय धातुओं के प्रयोग में भी क्योंकि यदि ऐसी बात रहती तो वृत्ति में उदाहरणों के द्वारा ऐसा ज्ञापित किया गया रहता।

धारेरुत्तमर्णः ।१।४।३५। धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

√धारि का उत्तमर्ण सम्प्रदान-संज्ञक होता है और उसमें चतुर्थी होती है। वस्तुतः धातु-पाठ में तो √धृङ् अवस्थाने से प्रेरणार्थक (णिच्) प्रत्यय करने पर √धार् होता है लेकिन उसका अर्थ 'धारना, कर्ज धारना' के अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतः जहाँ कहीं भी इस धातु का प्रयोग रहेगा वहाँ अवश्य ही दो पहलू होंगे—एक तो वह जो 'धारता' है और दूसरा वह जिसको 'धारता' है। व्याकरण की भाषा में जो धारता है उसको 'अधमर्ण' कहते हैं और जिसको धारता है वह 'उत्तमर्ण' कहलाता है। अधमं ऋणं यस्य = अधमर्णः = 'अधमर्ण' इसलिये चूँकि उसे ऋण लेना पड़ता है और उत्तमं ऋणं यस्य = उत्तमर्णः = 'उत्तमर्ण' इसलिये चूँकि उसको दिये हुए मूलद्रव्य के साथ सूद आदि के रूप में और भी अधिक द्रव्य की प्राप्ति होती है। अतः इस √धार के प्रयोग में जिसको ऋण धारे वही सम्प्रदान होता है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'भक्त' उत्तमर्ण है क्योंकि उसकी 'भक्ति' देने के कारण ही 'हरि' उसे 'मोक्ष' धारते हैं। अतः उसमें चतुर्थी हुई। इस उदाहरण से ज्ञापित होता है कि केवल √धार् का प्रयोग ही उत्तमर्ण में सम्प्रदानत्व लाने के लिये काफी है क्योंकि जहाँ भी इसका प्रयोग रहेगा वहाँ किसी-न-किसी रूप में 'अधमर्ण' और 'उत्तमर्ण' की सम्भावना अवश्य रहेगी। अतः केवल भौतिक द्रव्यादिक ऋण का भाव ही आवश्यक नहीं है जैसा उदाहरण से स्पष्ट है किन्तु गाँव में 'देवदत्त' को ऋण धारता है—इसका मतलब यह तो नहीं हुआ कि गाँव को ही ऋण धारता है। 'ग्राम' पद प्रत्युदाहरण में अधिकरण है। उत्तमर्ण तो केवल 'देवदत्त' होगा। फिर यदि सूत्र में 'उत्तमर्ण' का ग्रहण नहीं करते तो उसमें (अर्थात् उत्तमर्ण में) हेतुसंज्ञा की तरह अधिकरणसंज्ञा के भी अपवादस्वरूप सम्प्रदानसंज्ञा होती। अर्थतः ऐसी अवस्था में 'ग्राम' पद में अधिकरणसंज्ञा नहीं होती। और चूँकि कथित पद में अधिकरणसंज्ञा आवश्यक है, इसलिये 'उत्तमर्ण' का ग्रहण भी आवश्यक है।। फिर सूत्र में 'उत्तमर्ण' में यदि सम्प्रदान का विधान नहीं किया जाता तो √धार् के मौलिकतया प्रेरणार्थक होने के कारण तथा किसी भी सूत्र के द्वारा कर्मसंज्ञा के विधान के अभाव में पूर्ववाक्य के कर्त्ता में तृतीया की संभावना हो सकती थी हालांकि इसके समाधान में कहा जा सकता है कि 'उत्तमर्ण' का भाव रहने पर सतत √धार् के रूढ़ होने से प्रेरणात्मक अर्थ नहीं होगा और इसलिये प्रयोज्यकर्तृत्व के अभाव में ऐसी कोई संभावना नहीं होती—अधिक-से-अधिक ऐसी दशा में सम्बन्धे षष्ठी हो सकती थी। वस्तुतः यहाँ गौर से देखा जाय तो पता चलेगा कि √धार् में 'भविष्यत् दान' का अर्थ निहित है और इसी कारण 'उत्तमर्ण' में जो देयद्रव्यादि का उद्देश्य है, सम्प्रदान में चतुर्थी होती है।

स्पृहेरीप्सितः ।१।४।३६। स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात्कर्मसंज्ञा पुष्पाणि स्पृहयति ।

√स्पृह के प्रयोग में जो ईप्सित रहे (अर्थात् जिसकी स्पृहा की जाय) वह सम्प्रदान होता है और उसमें चतुर्थी होती है। √स्पृह् चुरादिगणीय है, अदन्त भी है नहीं तो लघु उपान्त्य वर्ण (Penultimate letter) रहने से गुण होने पर 'स्पर्हयति' होता। उदाहरण में √स्पृह का प्रयोग रहने पर 'पुष्प' पद ईप्सित है, अतः उसमें सम्प्रदाने चतुर्थी हुई। लेकिन यद्यपि फूल वन में ही है तो भी चाहते तो हैं फूल ही न कि वन, इसलिये 'वन' शब्द में प्रत्युदाहरण में केवल 'अधिकरण' अर्थ रहने पर सप्तमी हुई। यहाँ ईप्सित और ईप्सिततम का भेद समझना आवश्यक है यदि केवल ईप्सित अर्थ रहेगा तभी सम्प्रदान संज्ञा होगी अन्यथा ईप्सिततम अर्थ रहने पर 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार ही · · होगी। अत केवल स्पृहा द्योतित होने पर जिसकी स्पृहा हो उसमें सम्प्रदाने चतुर्थी, अन्यथा उत्कट स्पृहा रहने पर कर्मणि द्वितीया हो जायगी। 'पुष्पाणि स्पृहयति' उदाहरण उत्कट अभिलाषा व्यक्त करता है। हरदत्त के अनुसार 'कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च' आदि प्रयोग में शेषत्वविवक्षा से 'कान्त', आदि शब्द में षष्ठी भी युक्त होगा। अर्थात् जहाँ ईप्सितत्व की भी विवक्षा नहीं हो, विषयतामात्र की विवक्षा हो तो शेषत्व विवक्षा से 'पुष्पेभ्य स्पृहयति' या 'पुष्पाणि स्पृहयति' की जगह 'पुष्पाणां स्पृहयति' ही होगा। लेकिन कर्मसंज्ञा तथा शेष-षष्ठी दोनों ही के अपवादस्वरूप यही सम्प्रदान संज्ञा वाक्यपदीय में तथा हेलाराज के अनुसार बतलाई गई है। और यह ठीक ही है क्योंकि 'क्रियया यमभिप्रैति—' के अनुसार सम्प्रदानत्व की सिद्धि हो जाने पर तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं होती और इस मत के अनुसार तब 'पुष्पाणि स्पृहयति' और 'पुष्पाणां स्पृहयति' प्रयोग गलत होंगे।

क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः ।१।४।३७। क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। यं प्रति कोपः किम्? भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्या अक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रुहा-

दयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोप' इति।

√क्रुध् √द्रुह, ईर्ष्य्, तथा √असूय् के पर्याय धातुओं के प्रयोग में 'जिसके प्रति कोप किया जाय' (अर्थात् जो क्रमशः क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या या असूया का उद्देश्य हो) वह सम्प्रदान होगा। उदाहरणस्वरूप 'हरि' के प्रति क्रोध है तो 'हरये क्रुध्यति', द्रोह है तो 'हरये द्रुह्यति', ईर्ष्या है तो 'हरये ईर्ष्यति' और यदि असूया का भाव है तो 'हरये असूयति' होगा। यहाँ क्रोधादि के उद्देश्य में ईप्सिततमत्व की प्राप्ति के कारण कर्मत्व की प्राप्ति थी। उसको रोकने के लिये तथा सम्प्रदानत्व के विधान के लिये सूत्र बनाना पड़ा अन्यथा व्यवहार के विरुद्ध कर्मसंज्ञा हो जाती। निर्दिष्ट धातुओं में √असूय् कण्ड्वादिगणीय है तथा यक् प्रत्यय से निष्पन्न नामधातु है। फिर क्रोध का अर्थ अमर्ष' है जो एक विशेष प्रकार की मानसिक, वैषयिक असहिष्णुता के कारण उत्पन्न होता है। द्रोह वस्तुतः अपकार की भावना है। ईर्ष्या को दीक्षित ने अक्षमा कहा है जिसे तत्त्वबोधिनीकार 'परसम्पत्त्यसहनम्' कहते हैं। अतः क्रोध जहाँ किसी भी विषय का अमर्ष हो सकता है, बहुधा ईर्ष्या सम्पत्तिविषयक अक्षमा ही होती है। और, गुणों में भी छिद्रान्वेषण करने को, दोष निकालने को असूया कहा जाता है। ये सभी कोप से ही उत्पन्न होते हैं, अतः इनका समावेश कोप के अर्थ के अन्तर्गत ही हो जाता है। इसलिये अलग-अलग निरूपण करने की अपेक्षा सूत्र में सामान्यरूप से कह दिया गया—'यं प्रति कोपः'। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वस्तुतः जब क्रोधादि कोप से उत्पन्न हों तभी उनके प्रयोग में 'उद्देश्य' सम्प्रदान होगा। इसके विपरीत, जहाँ केवल इनमें से किसी धातु का प्रयोग हो लेकिन वस्तुतः कोप का अभाव हो तो सम्प्रदान संज्ञा नहीं होगी। यह बात प्रत्युदाहरण से स्पष्ट होती है। 'भार्यामीर्ष्यति' का अर्थ है—भार्या से स्वविषयक नहीं, केवल परविषयक अक्षमा है; अर्थतः दूसरे के द्वारा भार्या के देखने ही में ईर्ष्या का भाव है, अन्यथा नहीं। इससे सूचित होता है कि जिसके प्रति कोप (अर्थात् क्रोधादि) का भाव हो उसके प्रति वैयक्तिक उसके स्वविषयक दोषों के कारण ही 'कोप' हो। यहाँ प्रत्युदाहरण में चूँकि भार्या के प्रति वास्तविक स्वविषयक कोप नहीं है, इसलिये

'भार्या' शब्द में, कोप के उद्देश्य से सम्प्रदानसंज्ञा नहीं हुई। मूलतः 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार ईप्सिततमत्व के कारण कर्मसंज्ञा हुई। लेकिन यदि क्रोधादि का भान 'कोप' मात्र से ही हो जाता है तो क्रुधद्रुहेर्ष्या-आदि धातुओं का पृथक् समावेश क्या आवश्यक था ? क्योंकि ऐसी अवस्था में 'चित्तदोषार्थानां यं प्रति कोप.' कहने से ही काम चल जाता। निश्चय ही क्रोधादि चित्तविकार ही हैं लेकिन ऐसा करने पर सम्प्रदानत्व के लिये द्वेषादि का भी ग्रहण हो जाता जो इष्ट नहीं है। 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' आदि प्रयोग में द्वेषादि के उद्देश्य में सम्प्रदानत्व नहीं, ईप्सिततमत्व के हेतु केवल कर्म होता है। तत्त्वबोधिनीकार ने बतलाया है कि यहाँ द्वेष, का 'अभिनन्दन नहीं करना' ही अर्थ है, कोई गम्भीर शत्रुभावजन्य 'द्वेष' नहीं। और यदि यह मान लिया जाय कि इसलिये सम्प्रदानत्व नहीं हुआ तो इससे ध्वनित होता है कि जब गम्भीर 'द्वेष' आदि का अर्थ √द्विष् प्रभृति देंगे तो उनका समावेश पर्यायार्थत्व के कारण सूत्र में निर्दिष्ट धातुओं के अन्तर्गत हो सकता है। और यदि ऐसा संभव है तो यह कहना कि द्वेषादि भाव को बहिष्कृत करने के लिये ही 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्' के बदले 'चित्तदोषार्थानाम्' को नहीं रखा बिल्कुल भ्रामक होगा।

फिर, यदि 'कोपप्रभव' √क्रुध् आदि के प्रयोग में ही सम्प्रदानत्व होगा 'कस्मैचित् कुप्यति' प्रयोग कैसे होगा क्योंकि 'कोप' तो स्वयं 'कोपप्रभव' नहीं हो सकता है ? भाष्यकार ने भी कहा है—'नह्यकुपितः कुप्यति'—'जिसे कोप नहीं होता है वह क्रोध नहीं कर सकता है'।[1] तत्त्वबोधिनीकार व्याख्या की है कि यहाँ √कुप् का अर्थ 'द्रोह करना' ही है और यदि यह है तो सूत्र के अनुसार सम्प्रदानत्व ही होगा। वस्तुत. जैसे-जैसे स्पष्ट मालूम पड़ता है, टीकाकार लोगों ने कैसी गलतियाँ की है। √क्रुध् का चूँकि 'कोप' से ही उत्पन्न है इसलिये 'यं प्रति क्रोध, द्रोह ...' आदि न कहकर एकबार ही सूत्र में कह दिया गया—'यं प्रति कोप'। लेकिन हम मतलब यह नहीं कि केवल कोपप्रभव क्रुध् आदि धातुओं के प्रयोग में

---

1. नहि कोप कोपप्रभव। अत्र व्याचख्युः। कुपिरत्र द्रोहार्थ इति।

सम्प्रदानत्व होगा। चूँकि वे 'कोपप्रभव' हैं 'कारण जो बात लागू होगी अंगी (Genus) के साथ, वह कोई जरूरी नहीं है कि लागू हो अंग (Spelics) के साथ भी। इसके विपरीत, जो बात सत्य होगी अंग के विषय में, वह अवश्य ही सत्य होगी अंगी के विषय में भी। लेकिन यदि ऐसी शंका करें कि 'कोप' के अन्तर्गत तो क्रोधादि-निर्दिष्ट भावों के अतिरिक्त और भी भाव आ सकते हैं तो √कुप् के प्रयोग में हर जगह सम्प्रदानत्व कैसे हो सकता है क्योंकि जहाँ केवल क्रोधादि निर्दिष्ट अर्थ व्यक्त हों वहीं न सम्प्रदानत्व होगा ?—तब भी ठीक है क्योंकि कुछ जगह तो आखिर सम्प्रदानत्व होगा और हो सकता है कि 'कस्मैचित् कुप्यति' में क्रोधादि निर्दिष्ट ही अर्थ 'कोप' का हो! लेकिन √क्रुध् और √द्रुह अकर्मक हैं और इनके उद्देश्य में 'क्रियया यमभिप्रैति—' वार्त्तिक के द्वारा ही सम्प्रदानत्व की प्राप्ति हो सकती थी—तब फिर सूत्र में इनके समावेश की क्या आवश्यकता थी ? शायद स्पष्टीकरण के लिये ऐसा किया गया। इस तरह √क्रुध् और √द्रुह् के उद्देश्य में अकर्मकत्व के कारण प्राप्त षष्ठी के स्थान में और सकर्मक √ईर्ष्य् तथा √असूय् के उद्देश्य में प्राप्त द्वितीया की जगह चतुर्थी हुई।

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ।१।४।३८। सोपसर्गयोरनयोर्यं प्रति कोपस्तत् कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा ।

परन्तु √क्रुध् और √द्रुह् यदि उपसर्गयुक्त रहें तो 'जिसके प्रति कोप हो' वह कर्मसंज्ञक होता है। चूँकि उपसर्ग का परिगणन नहीं किया गया है इसलिये कोई भी उपसर्ग के साथ कर्मसंज्ञा हो सकती है। इस सूत्र के अनुसार व्यवहार के अनुकूल सम्प्रदानत्व का निषेध हुआ। फिर, इन दो धातुओं के अकर्मक होने के कारण इनके योग में कर्मत्व का जो अभाव होता, इसलिये भी उसका विधान करना पड़ा। उदाहरण में 'क्रूर' शब्द में कर्मत्व हुआ 'अभिक्रुध्यति' या 'अभिद्रुह्यति' के योग में।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ।१।४।३९। एतयोः कारकं

सम्प्रदानं स्याद् यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।

√राध् संसिद्धौ और √ईक्ष् दर्शने के योग में जिसके विषय में विविध प्रश्न किये जाँय वह सम्प्रदानसंज्ञक होता है। यहाँ इन दोनों धातुओं का अर्थ है—'शुभाशुभपर्य्यालोचन' और ये 'शुभाशुभ' रूप कर्म को धातु के अर्थ में संगृहीत करने के कारण अकर्मक हैं[1]। ऐसी स्थिति में धात्वर्थ में ही सन्निविष्ट पदार्थ 'शुभाशुभ' के गम्यमान रहने के कारण शेषत्व होने पर भी इनके योग में षष्ठी की संभावना थी, इसके अपवादस्वरूप चतुर्थी हुई सम्प्रदान में। प्रस्तुत उदाहरण में कृष्ण के भविष्यविषयक विविध प्रश्न किये जाते हैं और गर्ग ज्योतिषी कृष्ण के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर उनके शुभाशुभ का पर्य्यालोचन करते हैं, अतः 'कृष्ण' शब्द में सम्प्रदाने चतुर्थी हुई।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता।१।४।४०। आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिशृणोति, आशृणोति वा। विप्रेण 'मह्यं देहि' इति प्रवर्तितः प्रतिजानीते इत्यर्थः।

प्रतिपूर्वक तथा आपूर्वक √श्रु के पूर्ववाक्य का कर्ता सम्प्रदान होता है तथा उसमें चतुर्थी होती है। यहाँ प्रति और आङ् उपसर्ग से युक्त √श्रु प्रेरणात्मक रूप में प्रयुक्त है, अतः प्रेरणा के पूर्व के वाक्य में जो 'कर्ता' रहता है वह सम्प्रदान होता है उत्तरवाक्य में प्रेरणा का अर्थ पूर्ण होने पर। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में पूर्ववाक्य होगा—'विप्रः गां याचते' और तब उत्तरवाक्य होगा—'विप्राय गां प्रतिशृणोति' या 'विप्राय गाम् आशृणोति'। उत्तरवाक्य स्थित 'विप्र' शब्द पूर्ववाक्य में कर्ता है जो पीछे सम्प्रदान हुआ है। प्रति या आ उपसर्ग से युक्त √श्रु का अर्थ है 'प्रतिज्ञा करना' इसीलिए उदाहरणस्थ वाक्यों का अपेक्षित पूर्ववाक्य अनुमान-स्वरूप ही होगा। इसी को

---

१. द्रष्टव्य पृष्ठसंख्या : ३४

अनुक्त कर्त्ता में स्थित तृतीयान्त 'विप्र' शब्द के द्वारा वृत्ति में 'विप्र' शब्द का कर्तृत्व सूचित किया गया है ।

अनुप्रतिगृणश्च ।१।४।४१। आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ।

इस सूत्र में ऊपर के सूत्र से 'पूर्वस्य कर्ता' की अनुवृत्ति होती है और तब अर्थ होता है—अनुपूर्वक तथा प्रतिपूर्वक √गृ के पूर्ववाक्य का कर्त्ता सम्प्रदानसंज्ञक होगा और उसमें चतुर्थी होगी । √गॄ शब्दे है । प्रस्तुत उदाहरण में 'होता' में सम्प्रदान में चतुर्थी हुई क्योंकि वही पूर्ववाक्य का 'कर्त्ता' है जैसा वृत्ति के स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है । यज्ञ में 'होता' पहले कुछ कहता है और फिर अध्वर्यु उसके बाद कुछ विनियोगादि कहकर उसके वाक्य को दृढ़ बनाता है या 'होता' को प्रोत्साहित करता है अपने कर्म में । अतएव यदि 'होता प्रथमं शंसति' होगा तो उत्तरवाक्य 'अध्वर्युः होत्रेऽनुगृणाति' या 'अध्वर्युः होत्रे प्रतिगृणाति' होगा । अनु या प्रति उपसर्ग से युक्त √गृ का अर्थ एक ही है ।

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ।१।४।४४। नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं, तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः ।

कुछ निश्चित कालावधि के लिये मजदूरी देकर अपने स्वामित्व में कर लेना 'परिक्रयण' कहलाता है और यदि ऐसा अर्थ रहे तो जिस द्रव्यादि के द्वारा कोई कर्मकरादि किसी निश्चित काल के लिये मजदूरी देकर खरीद लिया जाय उस द्रव्यादि रूप 'परिक्रयण' में विकल्प से सम्प्रदान में चतुर्थी होगी, अन्यथा 'साधकतम' अर्थ रहने पर करणसंज्ञा में तृतीया होगी । प्रस्तुत उदाहरण में 'शत' द्रव्यादि का बोधक है, और चूँकि सौ रुपये आदि से 'भृत्य' का किसी निश्चितकाल तक के लिये खरीद लेना कहा गया है, अतः परिक्रयणवाची 'शत' शब्द में चतुर्थी हुई । ऐसी स्थिति में जब ऐसा अर्थ होगा कि 'सौ रुपये आदि

के द्वारा खरीद लिया गया' तो 'शत' के 'साधकतम' होने के कारण उसमें तृतीया होगी और इस पक्ष में होगा—'शतेन परिक्रीतः भृत्यः', अन्यथा 'शताय परिक्रीतः भृत्यः'। परिक्रयण का भाव उदाहरण में 'परिक्रीत' शब्द के प्रयोग से द्योतित है। 'परिक्रीयतेऽनेनेति' व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि 'परिक्रयण' का अर्थ यहाँ करणपरक है, परिक्रयणसाधन द्रव्यादि से मतलब रखता है।

तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या। मुक्तये हरिं भजति।

तस्मै इदं तदर्थम्। तस्य भावः तादर्थ्यम्। 'इसके लिये' ऐसा अर्थ जहाँ विवक्षित हो वहाँ चतुर्थी विभक्ति होती है। ऐसे स्थल में वस्तुतः उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध विवक्षित होता है क्योंकि 'यूपाय दारु' आदि स्थल में जहाँ प्रकृति विकृतिभाव है, इस सूत्र के अनुसार चतुर्थी नहीं होती है। उसके लिये अलग ही सूत्र है। पुनः उपकार्यत्वजन्यत्वादि बहुविध हो सकता है उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मुक्ति' भजनजन्य है। किन्तु दधि' में 'दधि' साक्षगम्य है। अतः यहाँ उपकार्यत्व का अर्थ प्राप्यत्व है। पूर्वोक्त उदाहरण में 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी हुई क्योंकि 'मुक्तये हरिं भजति' का अर्थ है—'मुक्त्यर्थं हरिं भजति'। पुनः इस वार्तिक की आवश्यकता इसलिये पड़ी चूँकि जहाँ 'यूपाय दारु' आदि स्थल में तादर्थ्य के अतिरिक्त प्रकृतिविकृतिभाव भी है, वहाँ प्रस्तुत स्थल में केवल तादर्थ्य है। वस्तुतः यह वार्तिक स्पष्टीकरणार्थ है।

क्लृपि सम्पद्यमाने च। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, संपद्यते, जायते। इत्यादि।

यहाँ 'सम्पत्ति' का साधारण यौगिक अर्थ 'अभूतप्रादुर्भाव' है। इसका 'अभूततद्भाव' से थोड़ा अन्तर है। वस्तुतः √क्लृप् के योग में जो नहीं था उसके हो जाने पर जो संपद्यमान रहे (अर्थात् जो संभव हो) उसमें चतुर्थी होती है। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' में 'भक्ति' से 'ज्ञान' होता है जो (ज्ञान) पहले नहीं था, अभूततद्भाव और अभूतप्रादुर्भाव में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अभूततद्भाव में जो नहीं रहता है पैदा होता है लेकिन अभूतप्रादुर्भाव में कोई जरूरी नहीं है कि जो नहीं है वही प्रादुर्भूत हो। अभूत पदार्थ के अतिरिक्त भी

कोई पदार्थ प्रादुर्भूत हो सकता है। फिर दूसरा अन्तर यह है कि इस वार्त्तिक के अन्तर्गत वस्तुतः अभूतपदार्थ का प्रादुर्भाव नहीं, अपितु अदृश्यमान पदार्थ का क्रमशः दृश्यमानत्व समझा जाता है। यही भाव 'कर्मणि शानच्' सूत्र से अभिहित है। इससे एक प्रक्रिया सूचित होती है कि वस्तुतः प्रारब्ध का ही सतत संयोगभाव रहता है, न कि[1] अभूत का प्रादुर्भाव। पुनः यद्यपि वार्त्तिक से स्पष्ट नहीं होता है, फिर भी उदाहरण से स्पष्ट है कि केवल √क्लृप् के योग में ही नहीं बल्कि तदर्थक अन्य धातुओं के योग रहने पर भी 'संपद्यमान' पदार्थ में चतुर्थी होती है। वस्तुतः ऐसे-ऐसे स्थल में भी प्रकृति-विकृतिभाव निहित रहता है। जब 'भक्ति' से 'ज्ञान' होना कहा जाता है तो 'भक्ति' प्रकृति-और 'ज्ञान' विकृति हुए। अतः ऐसी स्थिति में जब प्रकृतिविकृति में भेद-विवक्षा समझी जाती है तो विकृतिवाचक शब्द में ही चतुर्थी होती है, लेकिन अभेद-विवक्षा में प्रकृतिवाचक और विकृतिवाचक दोनों शब्दों में ही प्रथमा होती है जैसे 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' में। परन्तु 'जनिकर्तुः प्रकृतिः'[2] सूत्र से जब 'भक्ति शब्द में अपादान में पंचमी होती है तो ऐसी स्थिति में भी 'ज्ञान' शब्द में प्रथमा ही होती है।

उत्पातेन ज्ञापिते च। वाताय कपिला विद्युत्।

प्राणियों के शुभाशुभ-सूचक आकस्मिक भूतविकार को 'उत्पात' कहते हैं। इसलिये उत्पात का मतलब 'प्राकृतिक उत्पात' (Natural disturbance) है। ऐसे प्राकृतिक उत्पात से जो कुछ ज्ञापित हो उसमें चतुर्थी होती है। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत सन्दर्भ में 'कपिला विद्युत्' प्राकृतिक उत्पात है जिससे ज्ञापित होता है 'वात'; अतः 'वात' शब्द में चतुर्थी हुई।

हितयोगे च। ब्राह्मणाय हितम्।

यह वार्तिक वस्तुतः समासप्रकरणगत सूत्र 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः[3] से ही चतुर्थी समास विधान के अनुमानस्वरूप सिद्ध होता है।

---

१. मिलाइये 'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे ५।४।५०

२. पाणिनि : १।४।३०।

३. पाणिनि : २ १।३६।

'हित' शब्द के साथ चतुर्थ्यन्त का समास बतलाया गया है, अतः अवश्य ही सिद्ध है कि 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। एवं प्रसंग 'तदर्थ' और 'अर्थ' शब्दगत नित्यसमास को छोड़कर सूत्रगत अन्यान्य सुखादि शब्दों के योग में भी चतुर्थी सिद्ध है।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः।२।३।१४। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो याति। फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः। एवं 'स्वयंभुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि।

क्रिया अर्थं (प्रयोजनं) यस्याः सा क्रियार्था (क्रिया)। कोई क्रिया यदि किसी दूसरी क्रिया के लिए हो तो उसे क्रियार्था (क्रिया) कहते हैं। पुनः, क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य सः, तस्य क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि (स्थानिनः)। अर्थात् ऐसी क्रियार्था क्रिया यदि किसी स्थानी के उपपद (अर्थात् समीप) में हो तो ऐसे स्थानी के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है। 'उपपद' शब्द का अर्थ यहाँ साधारण 'पदस्य समीपम्' या 'उपोच्चारितं पदम्' है, न कि 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्'[1] सूत्र के अन्तर्गत प्राप्त विशेष अर्थ। स्थानमस्यास्तीति स्थानी। वस्तुतः व्याकरणशास्त्र की परिभाषा में 'स्थानी' का अर्थ कोई गम्यमान पदार्थ है जो स्वयं तो स्पष्टरूप से कथित नहीं रहता है, किन्तु उसका स्थानमात्र रहता है (अर्थात् केवल उसकी स्थिति बोधनीय रहती है)। फिर, 'स्थानी' का अर्थ यहाँ तुमुन्नन्त स्थानी है क्योंकि 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'[2] सूत्र में तुमुन् और ण्वुल् ही क्रियार्था क्रिया के लिये प्राप्त प्रत्यय हैं और चूँकि तुमुन्प्रत्ययान्त ही ऐसी स्थिति में स्थानी (अप्रयुज्यमान) हो सकता है (ण्वुल् का ऐसा होना व्यवहारतया असंगत है।) अतः फलित हुआ कि यदि कोई क्रिया जो दूसरी किसी क्रिया के लिये

१. पाणिनि : ३।१।९२।
२. ,, ३।३।१०।

हो (अर्थात् किसी दूसरी प्रधान (Finite) क्रिया के अप्रधान सहायक (Auxiliary) के क्रिया रूप में हो), किसी स्थानी (अप्रयुज्यमान) तुमुनयुक्त पद का उपपद हो (अर्थात् स्थानी या अप्रयुज्यमान उसी तुमुन्नन्त पद में निहित हो) तो ऐसी अप्रधान क्रिया के साक्षात् (Direct) कर्म में चतुर्थी होगी। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि यदि किसी प्रधान क्रियापद (Finite Verb) के साथ आये तुमुन्नन्त सहायक क्रिया पद (Auxiliary Verb) का लोप हो जाय तो लोप होने के पहले जिस पद में उस तुमुन्नन्त सहायक क्रियापद के योग में कर्म में द्वितीया विभक्ति थी उसी पद में लोप होने पर चतुर्थी विभक्ति हो जायगी पूर्व प्रधान क्रियापद के केवल रहने पर।

उदाहरणस्वरूप दिखलाया गया है—'फलेभ्यो याति' का अर्थ है 'फलानि आहर्त्तुं याति'। यहाँ स्पष्ट है कि तुमुन्नन्त सहायक क्रियापद 'आहर्त्तुम्' के योग में जहाँ 'फलानि' कर्मस्थित द्वितीयान्त है तहाँ उस सहायक क्रियापद 'आहर्त्तुम्' के लोप कर देने पर केवल प्रधान क्रिया 'याति' के साथ 'फलेभ्यः' चतुर्थ्यन्त रह जाता है। ऐसी स्थिति में मूल उदाहरण में 'फलेभ्यो याति' में तुमुन्नन्त क्रियापद 'आहर्त्तुम्' ही स्थानी है क्योंकि वही यहाँ अप्रयुज्यमान है, और स्पष्टीकरण की दृष्टि से जिसके कर्मभूत 'फल' शब्द में चतुर्थी हो गई है। अब ऐसा इसलिये होता है चूँकि तुमुन् प्रत्यय 'के लिये' के अर्थ में होता है और उसी प्रकार चतुर्थी विभक्ति भी होती है साधारणतया 'के लिये' के अर्थ में ही। लेकिन अन्तर यह है कि तुमुन् के साथ किसी अन्य क्रिया का योग रहता है और यह स्वाभाविक है क्योंकि बिना किसी क्रियायोग के किसी प्रत्यय का प्रयोग संभव ही नहीं है, अतः केवल चतुर्थ्यन्त पद के प्रयोग से इसलिये काम चल जाता है चूँकि इसी में अप्रयुज्यमान क्रियापद अध्याहृत रहता है। उदाहरणस्वरूप, 'फलेभ्यो याति' का अर्थ है 'फल के लिये जाता है' और 'फलानि आहर्त्तुं याति' का अर्थ है 'फल लाने के लिये जाता है'। अब 'के लिये' का प्रयोग दोनों अवस्थाओं में एक-सा रहने पर भी पूर्व स्पष्टीकरण के क्रम में कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त 'आहरण क्रिया' का प्रयोग तुमुन्नन्त के रूप में इसलिये

भी हुआ है जिससे तादर्थ्य चतुर्थी का भान 'फलेभ्यो याति' में न हो, कारण यहाँ 'गमन' क्रिया 'फल के लिये' नहीं है, अपितु 'फलकर्मक आहरण क्रिया' के लिये है। इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' आदि में 'नमस्करण' क्रिया 'स्वयम्भू' के लिये नहीं बल्कि 'स्वयम्भूकर्मक अनुकूलन' क्रिया के लिये ही है।

अब उपर्युक्त व्याख्यानुसार 'उपपद' शब्द का अर्थ 'निहित' या 'समीप' न लेकर यदि असाधारण अर्थ 'तदाश्रित' लें तो अच्छा लगता है क्योंकि वस्तुत जो क्रियार्था क्रिया है वही अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त स्थानी है और वही अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त स्थानी का तथाकथित 'उपपद' (अर्थात् समीप पद) भी कहा गया है। साधारणतया, वस्तुत जो वही है, वह समीपस्थ कैसे हो सकता है? ऐसी अवस्था में हम सूत्र की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि यह क्रियार्था क्रिया जो प्रधान क्रिया के उपपद में (अर्थात् समीप) है और जो अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त स्थानी है—उसके कर्म में चतुर्थी होती है।

फिर सूत्र में क्रियार्था क्रिया और तुमुन्नन्त स्थानी की बात वस्तुत वृत्तिगत उदाहरण के स्पष्टीकरण की अवस्था की बात है जब तुमुन्नन्त स्थानी—स्वरूप क्रियार्था क्रिया विद्यमान रहती है, अन्यथा जब उसके कर्म में चतुर्थी हो जाती है तब तो उसका अध्याहार हो जाता है। इसलिये यह भी कहना ठीक नहीं है कि ऊपर वर्णित स्थानी के कर्म मे चतुर्थी होती है क्योंकि ऐसी तुमुन्नन्त क्रियार्था क्रिया तो वस्तुत. उदाहरणावस्था में स्थानी कही जा सकती है जब एवं क्रियार्था क्रिया के कर्म में चतुर्थी हो गई रहती है और कर्म का नामो-निशान भी नहीं रहता है। किन्तु ऐसे कथन का परिहार हम इस तरह कर सकते हैं—वस्तुत. यदि वृत्ति की अवस्था में क्रियार्था क्रिया स्थानी रहती है तो उदाहरणावस्था में क्रियार्था क्रिया स्वयं भी तो नहीं रहती है जिसके कर्म मे चतुर्थी कही गई है। अत यही कहना ठीक होगा कि वृत्ति की अवस्था की तुमुन्नन्त क्रियार्था क्रिया जो उदाहरणावस्था में स्थानी हो जाती है उसके कर्म में तुमुन् के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इस प्रकार तुमुन्नन्त क्रियार्था क्रिया का स्थानी होना और उसके वृत्ति की अवस्था के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होना दोनो साथ साथ चलता है। और क्रियार्था क्रियारूप तुमुन्नन्त स्थानी के कर्म में चतुर्थी होती है यह भी कहा जा सकता है क्योंकि वस्तुतः इसका मतलब

यह है कि क्रियार्था क्रिया का जब प्रयोग हो और वह अन्यथा स्थानी (अर्थात् अप्रयुज्यमान) हो तब ऐसी अवस्था में जो उसका कर्म रहेगा उस शब्द में तुमुन्नन्त क्रियार्था क्रिया का अप्रयोग होने पर कर्म की द्वितीया की जगह चतुर्थी होगी ।

तुमर्थाच्च भाववचनात् ।२।३।१५। 'भाववचनाश्चेति' सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति, यष्टुं यातीत्यर्थः ।

किसी क्रियार्था क्रिया के उपपद में रहने पर (अर्थात् प्रधान क्रिया के समीपस्थ भाववाची-प्रत्ययान्त शब्द में ही सहायक अप्रधान क्रिया के निहित रहने पर) 'भाववचनाश्च'[१] सूत्र के अन्तर्गत विहित भाववाची प्रत्यय से व्युत्पन्न शब्द से ही चतुर्थी विभक्ति लगती है जब वह चतुर्थी विभक्ति तुमुन्नन्त कथित अप्रधान सहायक क्रिया के स्थान में लगती हो । ऐसी स्थिति में विहित चतुर्थी विभक्ति तुमुन् के अर्थ में हुई कही जायगी । उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में भाववाची घञ् प्रत्यय से व्युत्पन्न 'याग' शब्द में चतुर्थी होती है तत्स्थानिक अप्रधान सहायक क्रिया तुमुन्नन्त 'यष्टुम्' के बदले । प्रधान क्रिया 'याति' है । सूत्र में 'चकार' पूर्व सूत्र से क्रियार्थोपपदत्व के समुच्चयार्थ है । फिर भी यथास्थिति सूत्र की बनावट में एक दोष मालूम पड़ता है और वह यह कि वस्तुतः जिस भाववाची प्रत्यय से व्युत्पन्न शब्द में चतुर्थी होती है वह शब्द ही सचमुच तुमर्थक नहीं होता बल्कि जब चतुर्थी लग जाती है तब वह तुमुन् के अर्थ का पूरक होने से तुमर्थक बन जाता है । फिर, सूत्रस्थ 'भाववचनात्' का वृत्तिस्थ 'भाववचनाश्च' के साथ केवल अन्वयाभास दीख पड़ता है जो भ्रामक है क्योंकि 'भाववचनात्' में जहाँ 'भाव' का अर्थ क्रिया—अतएव भाववचन का अर्थ क्रियावाची है—वहाँ 'भाववचनाश्च' में भाव का अर्थ स्पष्टतः संज्ञा—अतएव भाववचन का अर्थ संज्ञा-विधायक प्रत्यय है ।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' और इस सूत्र में बहुत साम्य दीख पड़ता है, किन्तु अन्तर में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ पूर्वसूत्र में चतुर्थी

१. पाणिनि : ।३।३।११।

विभक्ति का विधान केवल 'नाम' शब्दों से होता है जिनमें तुमुन्नन्त सहायक अप्रधान क्रिया अध्याहृत होती है वहाँ उत्तर सूत्र में यह विधान ऐसे शब्दों से होता है जो 'आख्यातज' (अर्थात् धातुनिष्पन्न) होते हैं और भाववाची प्रत्यय से व्युत्पन्न रहते हैं जिनके वैकल्पिक पक्ष में ही तुमुन्नन्त सहायक क्रिया अकेली चतुर्थी के भाव की पूरिका होती है। उदाहरणस्वरूप 'फलेभ्योयाति' में अलग करके किसी प्रसंगोपयुक्त तुमुन्नन्त आहरणक्रिया की स्थिति गम्यमान समझी जाती है लेकिन 'यागाय याति' में जिस √यज् से भाववाची प्रत्यय लगाकर 'याग' शब्द से चतुर्थी लगाई गई है उसी √यज् में तुमुन् लगाकर वैकल्पिक सहायक क्रिया का पक्ष स्थापित होता है। इस विशदीकरण के प्रसंग में 'निरुक्त्य कारों के इस मत का अवलम्बन आवश्यक है कि कुछ शब्द धातुज हैं और कुछ नहीं, क्योंकि 'फलेभ्यो याति' में यदि 'फल' शब्द अधातुज 'नाम' नहीं रहता तो पृथक् करके तुमुन्नन्त आहरण क्रिया की कल्पना नहीं करनी पड़ती तथा दोनों सूत्रों में अन्तर भी बहुत कम और कृत्रिम होता जिससे अलग करके सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन जिस शब्द में चतुर्थी लगेगी उसके धातुज और अधातुज होने का यह नियम भी उतना कड़ा नहीं है जितना यह कि उत्तरसूत्र में चतुर्थी विभक्ति लेनेवाले सभी धातुज शब्द भाववाची प्रत्यय से ही निष्पन्न होंगे जहाँ पूर्वसूत्र के लिये यह आवश्यक नहीं।

वस्तुतः एक दृष्टि से देखने पर 'फल' शब्द भी धातुज कहा जा सकता है लेकिन जिस प्रकार उत्तरसूत्र में 'यागाय याति' का वृत्तिस्थ अर्थ 'यष्टुं याति' होता है उस प्रकार पूर्व सूत्र में 'फलेभ्यः याति' का अर्थ 'फलितुं याति' होना असंभव है। फिर, वृत्तिस्थ दूसरे उदाहरण 'नृसिंहाय नमस्कुर्मः' आदि देखने से पता चलता है कि इस सूत्र में चतुर्थी विभक्ति लेनेवाले शब्द यदि कभी धातुज बन जाएं भी सकते हैं तो बहुधा अधातुज सभी शब्द ही रहते हैं। किन्तु जैसे पूर्वसूत्र में 'फलेभ्य याति' का अर्थ किया जाता है 'फलानि आहर्तुं याति' वैसे ही उत्तरसूत्र में भी 'यागाय याति' का अर्थ 'यागं कर्तुं याति' हो सकता है।

---

१. द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या . ६

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ।२।३।१६। एभि-र्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति-र्बलीयसी । नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः । 'तस्मै प्रभवति–', 'स एषां ग्रामणी'रिति निर्दे-शात् । तेन 'प्रभुर्बुभूर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः, तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशि-षी'ति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति' । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

इस सूत्र में निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । यह विभक्ति उपपद-विभक्ति है और यह कारक-विभक्ति से भिन्न है । पदस्य समीपम् उपपदं, तस्मिन् या विभक्तिः, उपपदविभक्तिः । कारकत्वे सति या विभक्तिः, कारकविभक्तिः । किसी पद के समीपस्थ जो अन्य पद हो उसे उपपद कहेंगे और उपपद में जो विभक्ति होगी उसे उपपदविभक्ति । एतावता यह स्पष्ट है कि एक पद से सम्बन्ध स्थापित होने पर जो दूसरे पद में विभक्ति होती है उसे ही उपपदविभक्ति कहते हैं । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं— पदान्तरयोग-निमित्तिका विभक्तिः उपपदविभक्तिः । अर्थात् जिस विभक्ति की उत्पत्ति का निमित्त (कारण) कोई दूसरा पद हो उसे उपपद-विभक्ति कहेंगे । इसके विपरीत, केवल दो पदों में नहीं, बल्कि वाक्यस्थ क्रिया के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होने पर जो विभक्ति होती हो उसे कारक-विभक्ति कहेंगे । अतः क्रियाकारक के सम्बन्ध-निमित्त को कारक-विभक्ति और केवल पदसम्बन्धनिमित्त को उपपदविभक्ति कहते हैं । अब यह स्पष्ट है कि क्रियाकारक के सम्बन्ध के अन्तरङ्ग होने के कारण कारक-विभक्ति की प्रधानता होनी चाहिये उपपद-विभक्ति की अपेक्षा । लेकिन क्या एक अलग क्रियाविहीन पद में क्रियान्वयित्व की संभावना हो सकती है ? और यदि एक ही पद में

एक ही अवस्था में ऐसा संभव हो सकता है तभी उपपद-विभक्ति के स्थान में कारक विभक्ति की श्रन्यता का प्रश्न उठ सकता है। उदाहरण देखने से पता चलता है कि ऐसा ही होता है। 'हरये नमः' में क्रियान्वयित्व नहीं है, अतः कारकत्व नहीं है। 'नमः' एक पद है जिसके साथ चतुर्थी विभक्ति के द्वारा 'हरि' शब्द का सम्बन्ध स्पष्ट होता है, लेकिन यदि इसी उदाहरण में 'नमः' के साथ क्रिया पद का योग हो जाता है और इस तरह क्रियान्वयित्व की प्राप्ति होने पर कारकत्व की प्राप्ति हो जाती है तो 'नमस्कारकर्त्ता' का क्रिया के द्वारा 'हरि' ईप्सिततम हो जाता है। अतः ऐसी दशा में इस सूत्र का मूल सूत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' बाधित कर देता है और तब कर्मत्व की प्राप्ति होने पर हो जाता है—'हरिं नमस्करोति'। इसी प्रकार वृत्तिस्थ 'नमस्करोति देवान्' तथा 'मुनित्रय नमस्कृत्य' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः कर्मादि प्रत्येक कारक के अन्तर्गत दो अवस्थाएँ पाई जाती हैं—एक ऐसी अवस्था जहाँ कर्म आदि कारक में कारकत्वेन द्वितीया आदि विभक्ति होती है और दूसरी ऐसी अवस्था जिसमें क्रियान्वयित्व के अभाव के कारण कारकत्व के बिना भी केवल पदान्तरयोग के लिये द्वितीया आदि विभक्ति होती है। इनमें स्पष्टतः पहली अवस्था कारक विभक्ति की है और दूसरी उपपद विभक्ति की। फिर, 'स्वस्ति', 'स्वाहा', 'स्वधा' आदि अव्यय हैं जिनके योग में क्रमशः 'प्रजाभ्य', 'अग्नये', 'पितृभ्यः' आदि पदों में चतुर्थी विभक्ति दिखलाई गई है। वस्तुतः इस सूत्र में सभी अव्ययपद ही गृहीत हैं। इस प्रकार 'अलम्' भी अव्यय है लेकिन केवल 'पर्याप्ति' के अर्थ में ही इस शब्द का यहाँ ग्रहण होगा (वैसे तो इसके अनेक अर्थ होते हैं[1]) जैसे 'दैत्येभ्यः हरि अलम्' में। लेकिन जैसा वृत्ति के स्पष्टीकरण 'दैत्येभ्यो हरि प्रभु समर्थ ...' से सूचित होता है, न केवल 'अलम्' शब्द के योग से, अपितु इसके पर्यायवाची अन्य शब्दों के योग में भी चतुर्थी होती है। यह 'तस्मै प्रभवति—'[2] सूत्र से ज्ञापित होता है। इसी प्रकार 'स एषां ग्रामणी'[3]

---

1. द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या ७८
2. पाणिनि : ५।१।१०१।
3. पाणिनि : ५।२।७८।

सूत्र से ज्ञापित होता है कि इनके योग में षष्ठी भी हो सकती है। इसी से भाव के प्रयोग 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः[1]' आदि में 'प्रभु' शब्द के योग में षष्ठ्यन्त 'भुवनत्रयस्य' सिद्ध होता है।

फिर इस सूत्र के विषय में एक कथ्य विषय यह है कि यहाँ चकार पुनर्विधानार्थ है जिससे 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः[2]' सूत्र के अनुसार 'आशिष्' अर्थ रहने पर भी 'स्वस्ति' शब्द के योग में चतुर्थी के विकल्प में प्राप्त षष्ठी को बाधित करके पुनः प्राप्त चतुर्थी विभक्ति ही होगी। इसी लिये 'स्वस्ति गवां भूयात्' नहीं होकर के सर्वथा 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' ही होगा।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ।२।३।१७। प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्ये। अप्राणिष्वित्यपनीय—'नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्'। तेन 'न त्वां नावमन्नं वा मन्ये' इत्यत्राऽप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने श्वानं वा मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव।

√मन् ज्ञाने दिवादिगणीय है और √मन् अवबोधने तनादिगणीय। देवादिगण में श्यन् (अर्थात् 'य') विकरण होता है जो √मन् के बाद लगने से 'मन्यते' रूप देता है और तनादिगण में 'उ' विकरण होता है जो उक्त धातु के बाद लगने से 'मनुते' रूप बनाता है। इस सूत्र की परिधि में दिवादिगणीय √मन् ही अपेक्षित है जो सूत्रस्थ 'मन्यकर्मणि' के 'मन्य' भाग से द्योतित है। अतः सूत्र का अर्थ यह हुआ कि अनादर का भाव बोधित होने पर अप्राणिवाची दिवादिगणीय √मन् के कर्म में विभाषा से

---

१. शिशुपाल वधः १।४९।

२. पाणिनि : २।३।७३।

चतुर्थी विभक्ति होती है। इस प्रकार सूत्र में तीन प्रतिबन्ध हैं—(१) दिवादि-गणीय √मन् का कर्म होना; (२) अनादर का अर्थ सूचित होना और (३) √मन् के कर्म का अप्राणिवाचक होना। इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान में रखने लायक यह है कि जब कभी चतुर्थी होगी तो वैकल्पिक होगी क्योंकि मुख्यतया कर्म में द्वितीया ही होगी। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में दिवादिगणीय √मन के अप्राणिवाची कर्म 'तृण' में तिरस्कार अर्थ बोधित होने पर विभाषा से चतुर्थी हुई है। लेकिन प्रत्युदाहरण में दिखलाया गया है कि √मन् के रहने पर केवल दिवादिगणीय नहीं होने पर इसके कर्म के अप्राणिवाचक रहने पर भी चतुर्थी नहीं हुई है।

अब, पाणिनि के बाद कात्यायन हुए। उन्होंने देखा कि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अप्राणिवाचक रहने पर भी चतुर्थी नहीं होती, और बहुत से ऐसे भी शब्द हैं जिनके प्राणिवाचक रहने पर भी चतुर्थी विकल्प से हो जाती है। ऐसी स्थिति में उन्होंने सूत्र के सुधारस्वरूप वार्तिक लिखा जिसमें इन शब्दों को परिगणित किया जिनमें कभी भी चतुर्थी नहीं होती। वे शब्द हैं—नौ, काक, अन्न, शुक और शृगाल। इनमें हम देखते हैं कि 'नौ' अप्राणिवाचक शब्द है जिसमें सूत्रानुसार चतुर्थी हो जाती। किन्तु, इस परिधि के बाहर यदि हम 'श्वन्' शब्द को लें तो देखेंगे कि प्राणिवाची होने पर भी इसमें वर्तमान परिस्थिति में चतुर्थी हो जायगी जो अन्यथा सूत्रानुसार नहीं होती। इससे पता चलता है कि कात्यायन की दृष्टि कितनी सूक्ष्म थी। वस्तुत: पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि में जो मुनि जितने पीछे होते गये हैं उनकी उतनी अधिक प्रामाणिकता मानी जाती है। इसीलिए कहा गया है—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'। किन्तु फिर भी, इस वार्तिक में कुछ दुरूहता रह जाती है और वह यह कि पता चलाना मुश्किल हो जाता है कि वार्तिक में परिगणित शब्दों में ही केवल प्राप्त चतुर्थी का निषेध होगा या उनके पर्याय (Synonyms) में भी। वस्तुत: आपाततः तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यह वर्जन केवल इन्हीं परिगणित शब्दों का है।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ।२।३।१२।

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय

वा गच्छति। चेष्टायां किम्? मनसा हरिं व्रजति। अनध्वनीति किम्? पन्थानं गच्छति। गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात् पन्था एवा क्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति।

जब शारीरिक चेष्टा (Physical effort) अर्थ रहे और मार्गवाची शब्द का प्रयोग न हो तो गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया एवं चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में 'ग्राम' शब्द 'गच्छति' क्रिया का कर्म है। उसमें विकल्प से द्वितीया के साथ चतुर्थी विभक्ति भी दिखलाई गई है। यहाँ 'गमन' से शारीरिक चेष्टा व्यक्त है और अलग करके किसी रूप में मार्गवाची शब्द का प्रयोग नहीं है। अन्यथा 'मनसा हरिं व्रजति' में 'हरि' शब्द में वैकल्पिक चतुर्थी नहीं होगी क्योंकि यहाँ 'गमन' (व्रजन) से केवल मानसिक चेष्टा (Mental effort) व्यक्त है। इसी प्रकार 'पन्थानं गच्छति' में 'पथिन्' शब्द से √गम् का कर्म होने पर भी मार्गवाची होने के कारण चतुर्थी नहीं होगी। लेकिन यदि कोई शब्द केवल किसी गत्यर्थक धातु का कर्म रहे और इसके अलावे कोई भी सूत्रस्थ शर्त्त को पूरा नहीं करता रहे तो ऐसी स्थिति में उसमें कर्मत्वेन केवल द्वितीया ही होगी। इस दृष्टि से सूत्र में द्वितीयाचतुर्थ्यौ' में 'द्वितीया' का प्रयोग करीब-करीब पुनरुक्ति ला देता है क्योंकि साधारणतया कर्म में द्वितीया विभक्ति होती ही है। किन्तु वृत्ति को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है जिस प्रकार सूत्र में 'शारीरिक चेष्टा' की शर्त्त र परिस्थिति में लागू होती है उस प्रकार 'मार्गवाची शब्द के न रहने' की शर्त्त लागू नहीं होती। वस्तुतः यह शर्त्त लागू होती है केवल जानेवाले के द्वारा आश्रित मार्ग के विषय में ही। अतः जब गलत या भूले रास्ते से सही रास्ते र या उपपथ (By-way) से प्रधान पथ (Main-way) पर आने में 'शारीरिक चेष्टा' व्यक्त हो तो चतुर्थी—और प्रायः केवल चतुर्थी विभक्ति होगी जैसा 'उत्पथेन पथे गच्छति' प्रयोग में दिखलाया गया है।

इस प्रकार साधारणतया इस सूत्र में भी तीन शर्त्तें हैं—(१) गत्यर्थक धातु का ही कर्म होना; (२) शारीरिक चेष्टा व्यक्त होना, न केवल मानसिक

चेष्टा; और (३) साधारण अर्थ में मार्गवाची शब्द का प्रयोग न होना। लेकिन सूत्र में 'द्वितीयाचतुर्थ्यौ' में द्वितीया का ग्रहण नहीं भी किया जा सकता था जैसा ऊपर कहा गया है क्योंकि एक तो साधारणत कर्म में द्वितीया होती ही है, फिर जब कभी कर्म में दूसरी भी विभक्ति किसी विशेष अवस्था में होती है तो वह अपवादस्वरूप ही होती है। अत यदि ऐसा स्पष्टीकरणार्थ ही करना था तो 'विभाषा' का आश्रय लेकर या 'अनुवृत्ति' या 'अपकर्ष' सरीखे पारिभाषिक शब्दों का आश्रय लेकर 'विभाषा' का बोध करा कर ऐसा किया जा सकता था। किन्तु वस्तुत देखा जाय तो 'द्वितीया' का ग्रहण इस लिये किया गया कि जहाँ दूसरी विभक्ति का अपवाद कर दिया जाय वहाँ भी कर्म में सतत द्वितीया हो। इसी से 'ग्राम गन्ता' म 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'[1] सूत्र से तृजन्त के योग मे षष्ठी के अपवादस्वरूप द्वितीया ही की प्राप्ति होती है। फिर जब मार्गवाची शब्द के स्पष्ट प्रयोग के सूत्रस्थ प्रतिषेध पर हम ध्यान देते हैं, तो पाते हैं कि वस्तुत 'पन्थान गच्छति' का अर्थ है–'पन्था प्राप्त'। किन्तु जब अप्राप्त में प्राप्त की विवक्षा की जाती है तो चतुर्थी विभक्ति अवश्य होगी जैसा पूर्व दिखलाया गया है। इसलिये[2] तत्त्वबोधिनीकार के मत में सूत्र में 'अनध्वनि' के स्थान में 'असम्प्राप्ते' देना अधिक उपयुक्त होता। इसमें 'स्त्रियं गच्छति' का अर्थ सर्वथा 'स्त्री प्राप्ता' होगा और ऐसी स्थिति में कभी भी चतुर्थी नहीं होगी। इसी प्रकार 'अजां नयति ग्रामम्' में तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार √नी के अगत्यर्थक होने के कारण कभी भी 'ग्राम' शब्द से चतुर्थी नहीं होगी क्योंकि उनके अनुसार √नी का 'गति' अर्थ प्रतीयमान है न कि वास्तविक उसका यह अर्थ है। किन्तु मैं समझता हूँ कि गौणतया या मुख्यतया—किसी भी तरह √नी का 'गति' अर्थ होता है और तदनुसार 'ग्राम' शब्द में विकल्प से चतुर्थी होने से 'अजां नयति ग्रामाय' प्रयोग किसी भी हालत में अनुपयुक्त तथा असंगत नहीं मालूम पड़ता है। ऐसा 'अकथितञ्च'

---

1. पाणिनि: २।३।६९।

2. इह अनध्वनीत्यत्रोय 'असम्प्राप्ते इति पूर्णं। तेन' स्त्रियं गच्छती त्यत्र स्त्री प्राप्तेति न चतुर्थी।

सूत्र के प्रसंग में प्रतिपादित इस बात से भी पता चलता है कि √नी के द्विकर्मक होने के कारण ही सम्प्रदानादि कारक के अकथित होने पर कर्मसंज्ञा में द्वितीया विभक्ति होती है। साथ-साथ एक और प्रश्न यहाँ विचारणीय है और वह यह कि सूत्रानुसार वैकल्पिक चतुर्थी विभक्ति लेने के लिये केवल 'अध्व' शब्द का प्रयोग नहीं रहना चाहिये या उसके पर्य्यायवाची किसी अन्य शब्द का भी। वस्तुतः कर्मत्व संभव होता है अर्थ की दृष्टि से ही, अतः समझना चाहिये कि अध्ववाची सभी शब्दों के प्रयोग का निषेध तात्पर्य है।

अपादानकारक : पञ्चमी विभक्ति

ध्रुवमपायेऽपादानम् ।१।४।२४। अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् ।

अपादीयते अस्मात् तदपादानम् । जिससे कुछ हटे या हटा लिया जाय वही अपादान कहलाता है और अग्रिम सूत्र के अनुसार ऐसे अपादानभूत विषय में ही पंचमी विभक्ति होती है । अब बात यह है कि जहाँ अपादान का भाव रहता है वहाँ दो विषय की कल्पना आवश्यक रूप से करनी पड़ती है—एक वह जिससे कुछ अलग होता है और दूसरा वह जो अलग होता है । अत ऐसी स्थिति में 'अपाय' (अर्थात् पारस्परिक विश्लेष) का भाव रहता ही है क्योंकि एक विषय से दूसरे विषय का अलग होना ही विश्लेष है । इसलिये सूत्रानुसार ऐसा विश्लेष रहने पर जो विषय 'ध्रुव' (अर्थात् स्थिर) रहे जिससे कोई दूसरा पदार्थ अलग होता हो तो वही 'अपादान' कहलाता है । वस्तुतः साधारण भाषा में 'ध्रुव' का अर्थ केवल 'निश्चित' होता है जिसमें व्याकरण की परिभाषा में 'अवधिभूत स्थिर विषय' अर्थ हुआ । वस्तुत. विचार करने पर विश्लेष की अवस्था में 'ध्रुव' विषय की परिकल्पना काफी वैज्ञानिक मालूम पड़ती है क्योंकि जहाँ कहीं भी एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से अलग होगा तो उन दोनों में से अवश्य ही एक स्थिर होगा । ऐसी स्थिति में स्थिर होने का मतलब हो सकता है अपेक्षाकृत स्थिर होना । अत· यह स्थिरता कभी वास्तविक हो सकती है और कभी सापेक्ष । स्तब्ध और नीरव वायुमंडल में जब वृक्ष से पत्ता गिरता है तो 'वृक्ष' वास्तविक रूप से स्थिर कहा जायगा, लेकिन यदि हवा बहने पर पत्ता गिरता है तो ऐसी अवस्था में वृक्ष की स्थिरता सापेक्ष (Relative) कही जायगी ।

अपादाने पञ्चमी ।२।३।२८। ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात् पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैसी भी स्थिति हो वास्तविक स्थिरता की या सापेक्ष स्थिरता की—स्थिर पदार्थ ही 'अपादान' कहलाता है और उसमें पंचमी होती है। किन्तु 'ग्रामादूआयाति' के उदाहरण से प्रतीत होता है कि इस सूत्र के अन्तर्गत अपादान में किसी भी प्रकार के विश्लेष का भाव समन्वित है—भले ही वह ऐच्छिक हो या अनैच्छिक हो, स्थावर-विषयक हो या जङ्गमविषयक हो, ऐकपदिक (Simultaneous) हो या शनैःभूषमान हो। दूसरा उदाहरण सापेक्ष स्थिरता-विषयक है। जब सवार दौड़ते हुए घोड़े से गिर पड़ता है तो यद्यपि गिरते वक्त सवार और घोड़ा दोनों ही चलायमान रहते हैं, फिर भी सवार की अपेक्षा घोड़ा स्थिर कहा जायगा। और यदि घोड़ा भी गिर जाय तो घोड़े का हौदा आदि अपेक्षया स्थिर कहा जायगा।[१] लेकिन 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतति' उदाहरण में दो-दो अवधिभूत विषय रहने से दो-दो अपादान होंगे—'अश्व' की अपेक्षा 'पर्वत' और अश्वारोही की अपेक्षा 'अश्व'। इसके विपरीत, 'उद्धृतौदना स्थाली' में समासार्थ में 'स्थाली' अवधिभूत 'ध्रुव' विषय समझी जायगी जैसा 'उद्धृतान्योदनानि यस्याः सा' विग्रह में उसके अपादानत्व से सूचित होता है। फिर, ग्रामादागच्छति शकटेन' में 'ग्राम' शब्द में जहाँ अवधिभूत विषय रहने पर अपादानसंज्ञा होगी वहाँ 'शकट' शब्द में साधकतम भाव रहने के कारण करणसंज्ञा होती है। किन्तु प्रश्न उठता है कि जहाँ विश्लेष स्पष्ट नहीं रहता है वहाँ कैसे अपादानकारक हो सकता है? वस्तुतः जहाँ उपपदविभक्ति के रूप में पंचमी होती है वहाँ भी प्रायः हर जगह कम-से-कम बुद्धिगत विश्लेष का भाव अवश्य रहता है। इस प्रकार 'धर्मात् प्रमाद्यति' और 'चोराद् बिभेति' में क्रमशः 'प्रमाद' और 'भय' से मानसिक विश्लेप द्योतित होने के कारण बुद्धिकल्पित अपादानत्व होता है। वस्तुतः भाष्यकार ने कारकप्रकरण में गौणमुख्यन्याय की आवश्यकता बतलाई है जिससे बुद्धिकृत अपादानत्व की कल्पना भी अनावश्यक है। इस प्रकार उन्होंने 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' आदि सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया है।

---

१. हरि : पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याऽप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते॥

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् । पापाज्जुगुप्सते । विरमति । धर्मात् प्रमाद्यति ।

पूर्वोक्त बुद्धिकल्पित विश्लेष का समावेश करने के लिये कात्यायन ने यह वार्तिक बनाया । इसके आधार पर पाणिनिकृत अन्यान्य सूत्र भी सिद्ध हो जाते हैं । इसके अनुसार जुगुप्सार्थक, विरामार्थक तथा प्रमादार्थक धातुओं के योग में भी अपादानसंज्ञा का उपसंख्यान कर लिया जाय । इस तरह सर्वत्र उदाहरण में 'पाप' और 'धर्म' शब्दों से अपादान में पंचमी दिखलाई गई है । एक विषय यहाँ पर बता देना आवश्यक है कि विश्लेष जैसा भी हो—बुद्धिकल्पित या वास्तविक—वह बराबर संयोगपूर्वक होता है ।[1] अतः जब भी कहा जाता है कि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से अलग होती है तभी तात्पर्य होता है कि पहले वह उससे मिली हुई थी ।

भीत्रार्थानां भयहेतुः ।१।४।२५। भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति । चोरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते वा ।

√भी और √त्रै के पर्य्यायवाची धातुओं के प्रयोग में जो भय का हेतु हो वह अपादानसंज्ञक होता है । यहाँ 'भय-हेतु' ऐसा शब्द है जो दोनों धातुओं तथा उनके पर्याय के साथ समानरूप से लागू होता है इसका कारण यह है कि त्राणार्थक धातु के मूल में भी भय का ही भाव रहता है । क्योंकि जिससे भय होता है उसीसे रक्षा भी की जाती है । उदाहरण में दोनों जगह 'चोर' ही भयहेतु है । अतः अपादानसंज्ञा से उसमें पंचमी हुई है । लेकिन भयार्थक धातु के प्रयोग में कभी भी कर्मत्व की संभावना नहीं होगी उनके अकर्मक होने के कारण । इसके विपरीत, सकर्मक त्राणार्थक के प्रयोग में कर्मत्व भी

1. मिलाइये : महाभाष्यम् १।४।२।

इह तावदधर्माज्जुगुप्सतेऽधर्माद् बीभत्सत इति । य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति । स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते । तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम् ।

प्रसंगवश हो सकता है। उदाहरणस्वरूप 'चोराद् बालकं त्रायते' में जहाँ ईप्सिततम रहने के कारण 'बालक' कर्म है वहाँ अपादानसंज्ञा में 'चोर' शब्द में पंचमी है। फिर 'चोराद् बिभेति' में 'चोर' शब्द में 'हेतौ पंचमी' भी कही जा सकती है, किन्तु 'चोरात् त्रायते' में यह लागू नहीं होता। परन्तु 'कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोपस्य संयुगे[1], प्रयोग कैसे हुआ ? वस्तुतः[2] तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'कस्य जातरोपस्य' का अन्वय 'संयुगे' के साथ है अन्यथा 'बिभ्यति' के योग में यहाँ अपादाने पंचमी होती। फिर उनके अनुसार परवर्त्ती अधिकरण-संज्ञा से बाधित हो जाने के कारण 'संयुग' शब्द में भी अपादानत्व नहीं हो सकता। मेरी समझ में यहाँ आसानी से शेषत्व विवक्षा से षष्ठी सिद्ध हो जाती है। पुनः इसी प्रकार प्रत्युदाहरण में 'अरण्ये बिभेति' में 'अरण्य' शब्द में अपादानसंज्ञा को बाधित करके ही अधिकरणसंज्ञा प्रवर्तित हुई है। फिर 'अरण्य' यहाँ भयहेतु की तरह कल्पित भी नहीं है। वस्तुतः जब 'अरण्य' शब्द से 'आरण्यक जन्तु' का उपचार (लक्षण) समझा जायगा तभी अभेदसंसर्ग से 'भयहेतु' की तरह कल्पित होने के कारण 'अरण्य' शब्द में पंचमी होगी। इसके विपरीत, 'अरण्य' और 'सिंह' के बीच सम्बन्धविवक्षा होने पर 'अरण्यस्य सिंहाद् बिभेति' प्रयोग भी सिद्ध हो सकता है।

पराजेरसोढः ।१।४।२६। पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात् पराजयते । ग्लायतीत्यर्थः । असोढः किम् ? शत्रून् पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ।

परापूर्वक √जि के प्रयोग में जो असोढ विषय हो उसमें अपादान में पंचमी होती है। परा उपसर्गयुक्त √जि सकर्मक भी होता है और अकर्मक भी। दोनों के अर्थ भी दो होते हैं—सकर्मक का 'पराजित (या पराभूत)

---

१. वल्मीकिरामायणम् : १।४।

२. 'कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोपस्य संयुगे' इति रामायणे तु 'कस्य', त्यस्य संयुगेनान्वयान्नास्ति भयहेतुत्वमिति षष्ठीप्रयोगः सङ्गच्छते। न चैवं संयुगस्यापादानत्वापत्तिरिति वाच्यम्। परया अधिकरणसंज्ञया अपादानसंज्ञाबाधात्।

करना' और अकर्मक का 'पराजित (या पराभूत) होना'। इनमें अकर्मक परापूर्वक √जि ही इस सूत्र की परिधि में आता है। फिर तो प्रत्ययान्त रहने पर भी 'असोढ' का भूतकालिक अर्थ नहीं, अपितु 'असह्य' अर्थ है। इसीसे तो 'अध्ययनात् पराजयते' आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। उदाहरण में 'अध्ययन' ही असह्य विषय है। अत: 'अध्ययनात् पराजयते' का अर्थ है—'अध्ययन से पराजित होता है' (अर्थात् अध्ययन से भागता है)। वस्तुतः यहाँ भी अध्ययन से अनवधानता या पलायन के कारण बुद्धिकल्पित विश्लेष सूचित होता है। प्रत्युदाहरण में अकर्मक 'परा' पूर्वक √जि के विपरीत उपर्युक्त सकर्मक का प्रयोग दिखलाया गया है। ऐसी स्थिति में 'असह्य' अर्थ का अभाव रहने के कारण अपादानत्व का भी अभाव हुआ। यहाँ कोई अन्य विषय कर्त्ता को असह्य नहीं होता, बल्कि कर्त्ता ही किसी अन्य विषय को असह्य होता है। इसलिये सकर्मकत्व में ईप्सिततम 'शत्रु' शब्द में कर्मणि द्वितीया हुई है। दूसरी ओर, जब 'शत्रु' ही असह्य हो तो सूत्र के अनुसार 'शत्रुभ्यः पराजयते' भी होगा।

वारणार्थानामीप्सितः ।१।४।२७। प्रवृत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम्। यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में जो ईप्सित रहे वह अपादान होता है और उसमें पंचमी होती है। उदाहरणस्वरूप 'यवेभ्यो गां वारयति' में वारण क्रिया का इष्ट है 'यव' क्योंकि उसे ही बैल या गाय के खा जाने से बचाना है। कुछ अन्य स्थलों की तरह यहाँ भी 'ईप्सित' और 'ईप्सिततम' का भेद समझना चाहिए। यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि यहाँ ईप्सित के बदले ईप्सिततम ही क्यों न कहा गया तो उत्तर में कहा जा सकता है कि ईप्सिततम में तो 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार कर्मत्व की ही प्राप्ति होती है। वस्तुतः 'गो' ईप्सिततम है क्योंकि यदि उसे हटा देता है तो स्वतः 'यव' की रक्षा हो जाती है। इसलिये यद्यपि 'यव' ईप्सित है (क्योंकि रक्षा करनी है उसी की), फिर भी 'गो' ही ईप्सिततम है (क्योंकि वारण क्रिया का लक्ष्य वही है)। ऐसी

अवस्था में यदि 'यव' अपना रहे और 'गो' दूसरे की तो चूँकि कर्त्ता 'यव' को बचाना चाहेगा सीधे उससे निकटता के कारण, इसलिये 'यव' ही ईप्सिततम होगा और 'गो' ईप्सित–'गोः यवं वारयति'। लेकिन ऐसी स्थिति में 'वारण' का वृत्तिगत अर्थ 'प्रवृत्तिविघात' नहीं होगा क्योंकि प्रवृत्ति 'यव' के प्रति 'गो' की ही हो सकती है न कि 'गो' के प्रति 'यव' की उसकी निर्जीवता के कारण! इस दृष्टि से यहाँ 'वारण' का अर्थ 'प्रवृत्तिविघात' नहीं लेकर केवल 'हटाना' लेना पड़ेगा। इसीलिए कहा जाता है—विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति'—कारक का होना बहुत कुछ वक्ता (Speaker) की इच्छा पर निर्भर करता है, जिस दृष्टि से वह शब्दों का व्यवहार करे, यह उसकी स्वतंत्रता है। उपर्युक्त स्थल में अन्य दृष्टि से 'यव' हो अपना या 'गो' यव के ईप्सितत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा चूँकि जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है 'गो' के 'वारण' से स्वतः उसकी रक्षा हो जाती है। यदि 'यव' ही दूसरे का है और 'गो' अपनी तो भी 'यव' के खा लेने से जिसका 'यव' है वह 'गो' को पकड़कर बाँध रक्खेगा, दण्डित करेगा—आदि कारणों से 'यव' ही ईप्सित होने के कारण अपादान होगा।

लेकिन 'अग्नेर्माणवकं वारयति' में यद्यपि 'माणवक' का ईप्सिततम होना ठीक जँचता है, पर 'अग्नि' कैसे ईप्सित हुई जिससे उसमें अपादानसंज्ञा हुई? वस्तुतः उपर्युक्त व्याख्यानुसार 'अग्नि' उस प्रकार ईप्सित नहीं कही जा सकती जिस प्रकार 'यव' है। फिर भी शब्दशक्ति पर ध्यान देने से उसका अपादानत्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ 'वारण' का भाव रहेगा वहाँ अवश्य ही एक पदार्थ अनिष्टकारक रहेगा जिससे दूसरे पदार्थ को बचाना अभीष्ट होगा। फिर दोनों में जो बुद्धिकल्पित अवधिभूत विषय होगा वही अपादान होगा। इस प्रकार दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'गो' और 'अग्नि' अनिष्टकारी पदार्थ हैं जिनसे 'यव' और 'माणवक' की रक्षा की जाती है। किन्तु एक जगह जहाँ अनिष्टकारी विषय 'गो' है और उसकी अपेक्षा 'यव' अवधिभूत विषय होता है वहाँ दूसरी जगह अनिष्टकारी 'अग्नि' ही अवधिभूत होने के कारण अपादान होता है। दूसरी ओर, प्रत्युदाहरण में दिखलाया गया है कि 'गो' का वारण किया जाता है क्षेत्रस्थ 'यव' से, न कि क्षेत्र से क्योंकि

यह (क्षेत्र) अपने में ईप्सित नहीं है। इसके विपरीत, जब 'क्षेत्र' और 'यव' के बीच अभेदभाव समझा जायगा या 'क्षेत्र' में ही 'यव' का भाव निहित समझा जायगा तो 'क्षेत्र' शब्द में अपादाने पंचमी होगी और 'क्षेत्रात् गां वारयति' हो सकता है।

अन्तर्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति ।१।४।२८। व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याऽभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चोरान्न दिदृक्षते। इच्छतिग्रहणं किम्? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा-स्यात्।

अन्तर्धि (अर्थात् व्यवधान) रहने पर जिससे अदर्शन (अर्थात् छिपना) चाहे वह अपादान होता है और उसमें पंचमी होती है। सूत्र में[1] तत्त्व-बोधिनीकार ने 'येन' को अनुक्त तृतीया से युक्त बतलाया है जिसकी व्याख्या असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। 'माता कृष्णं मृगयते' ऐसा पूर्ववाक्य कल्पित करने पर ही अनुक्त कर्ता की शब्दशास्त्रिक व्याख्या कर 'मातुः निलीयते कृष्ण.' की हम उपयुक्तता सिद्ध कर सकते हैं। वस्तुतः सूत्र में 'येन' के स्थान में 'यस्मात्' का अन्वय करके समुचित और साधारण अपादान के अर्थ का प्रतिपादन किया जा सकता है। उदाहरण में 'निलीयते' का प्रयोग कर व्यवधान का बोध कराया गया है। जब कृष्ण अपनी माँ से छिपते हैं तो किसी 'भित्ति' आदि की आड़ में छिपते हैं। इसके विपरीत, प्रत्युदाहरण में कोई व्यवधान वर्तमान नहीं है। फिर, चूँकि चोर न देख ले, इसलिए चोर को नहीं देखना चाहता है, अत 'चोर' शब्द में ईप्सिततमत्वात् अनीप्सित में कर्मत्व में द्वितीया ही हुई है। अदर्शन की इच्छा रहने पर भी 'अन्तर्धि' के अभाव में अपादानत्व नहीं हुआ। फिर, 'अदर्शनमिच्छति' ऐसा इसलिए कहा जिससे अदर्शन की इच्छा रहने पर 'दर्शन' हो जाने पर भी इस अर्थ में अपादानसंज्ञा

१. येनेति कर्तरि तृतीया। न च कृद्योगे षष्ठीप्रसङ्गः, 'उभयप्राप्तौ कर्मण्ये'ति नियमात्।

हो। 'कृष्ण' माता से छिपते हैं लेकिन यदि माता कभी-कभी उसे देख भी लेती है तो भी उसमें अपादानत्व होता है। इस तरह 'कृष्ण' को माता से 'अदर्शनेच्छा' है अवश्य, किन्तु उसे माता का 'दर्शन' अनिष्ट नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्युदाहरण में इसलिए भी 'चोर' शब्द में अपादानत्व नहीं हुआ चूँकि वह अनिष्ट है। लेकिन वस्तुतः यदि कोई डरपोक रहे और अनिष्टत्व रहते हुए भी 'चोर' से छिपे तो 'चौरेभ्यः निलीयते' हो सकता है। अतः 'अनिष्टत्व' अपादानत्व का बाधक होगा, ऐसा शब्दशक्ति के आधार पर नहीं कहा जा सकता।

आख्यातोपयोगे ।१।४।२९। नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति।

गुरुमुख से नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण करना 'उपयोग' कहलाता है। जहाँ 'उपयोग' हो वहाँ जिससे विद्या स्वीकार की जाय उससे अपादान में पंचमी होती है। सूत्र में आख्याता का अर्थ है व्याख्याता या उपाध्याय। उदाहरण में शिष्य उपाध्याय से सविध विद्या ग्रहण करता है इसलिये 'उपाध्याय' शब्द में अपादानसंज्ञा हुई है। वस्तुतः भाष्य में 'उपाध्यायान्निर्गतं वेदं गृह्णाति' ऐसा उपर्युक्त उदाहरण का स्पष्टीकरण करके पतञ्जलि ने इस सूत्र का भी बुद्धि-कृत अपादानत्व के आधार पर प्रत्याख्यान कर दिया है। प्रत्युदाहरण में दिखलाया गया है कि 'उपयोग' के अभाव में अपादान संज्ञा नहीं हुई; ऐसी स्थिति में सम्बन्धमात्र की विवक्षा रहने पर षष्ठी हुई। इस सूत्र के अनुसार 'नियमपूर्वक विद्यास्वीकार' के अभाव में कभी भी अपादान नहीं हो सकता, किन्तु भाषा का यह बन्धन ठीक नहीं। वस्तुतः शब्दशक्ति के अनुसार 'नटस्य गाथां शृणोति' की ही तरह केवल विवक्षावशात् 'नटाद् गाथां शृणोति' भी हो सकता है। फिर, उदाहरण और प्रत्युदाहरण में क्रमशः 'अधीते' और 'शृणोति' क्रियाओं का प्रयोग भी बहुत अन्तर ला देता है। लेकिन 'उपाध्यायाद् वेदम-धीते' यदि उदाहरण मान लिया जाय तो इसी प्रकार 'उपाध्यायस्य वेदमधीते' भी सम्बन्धविवक्षा में क्यों नहीं हो सकता है? किन्तु यदि ऐसा मानें कि

उपाध्याय का वेद उस प्रकार नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार भट की गाथा—तो समझना चाहिये कि 'गाथा' भी तो किसी अन्य मनुष्य की उसी प्रकार की हो सकती है जिस प्रकार 'भट' की।

जनिकर्तुः प्रकृतिः ।१।४।३०। जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

जनन जनिरुत्पत्ति । 'जनि' का अर्थ है उत्पत्ति और सूत्र में उत्पत्तिकर्ता का अर्थ लिया गया है। 'उत्पत्ति का आश्रयभूत'। 'प्रकृति' का साधारण अर्थ 'हेतु' लिया गया है। इस प्रकार उत्पत्ति के आश्रयभूत विषय का जो 'हेतु' रहे उसमें अपादान में पञ्चमी होती है। अर्थात यदि कोई पदार्थ उत्पन्न हो तो उसकी उत्पत्ति का जो 'हेतु' हो (अर्थात् जहाँ से वह उत्पन्न हुआ हो) उसी में पञ्चमी होती है। उदाहरण में 'प्रजा' उत्पन्न होती है और उसकी उत्पत्ति का हेतु है ब्रह्मा क्योंकि उसी से 'प्रजा' उत्पन्न होती है। 'ब्रह्मा' शब्द में इसी से अपादाने पञ्चमी हुई है। वस्तुतः हलन्त धातु को कभी-कभी सूत्र में इकारान्त निर्दिष्ट किया जाता है। इस प्रकार मेरी समझ में यदि 'जनि' से √जन् मात्र का बोध समझा जाय तो अर्थ सरल हो जाता है—√जन् के कर्ता (Subject) का हेतु अपादान होता है। इस प्रकार 'ब्रह्मा' शब्द में प्रपूर्वक √जन् के कर्ता 'प्रजा' के प्रकृतिभूत होने के कारण अपादान संज्ञा में स्पष्टतः पञ्चमी कही जा सकती है। यहाँ प्रपूर्वक √जन् के प्रयोग से स्पष्ट है कि निर्दिष्ट धातु के साथ किसी भी उपसर्ग का योग सूत्र की प्रवृत्ति में बाधक नहीं है। इतना ही नहीं। पर्याय धातुओं के प्रयोग में भी नियम लागू होगा। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि[1] तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'जनिकर्ता' का अर्थ 'उत्पत्ति का आश्रयभूत' लेने से ही √जन् को छोड़कर कोई भी तदर्थयार्थी धातु प्रयोग की परिधि में आ सकता है। इस प्रकार उन्होंने 'अङ्गादङ्गात् संभवसि' प्रयोग इसी सूत्र के अन्तर्गत सिद्ध किया है। किन्तु मेरी समझ में इस प्रयोग को अधिक बढ़िया तरह से अनुवर्तीसूत्र 'भुवः प्रभवः' में सिद्ध किया जा सकता है।

---

१. एवं चोत्पत्त्याश्रयस्य यो हेतुस्तदपादानमित्यर्थाल्लाभात् तद्योगेऽप्यपादानत्वं भवत्येव । 'अङ्गादङ्गात्संभवसि—' इति यथा ।

फिर, भाष्यकार और कैयट के अनुसार सूत्रस्थ 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'उपादान कारण' है।[१] इसके स्पष्टीकरणार्थ उन्होंने उदाहरण दिये हैं—'गोमयाद् वृश्चिका जायन्ते', 'गोलोमाऽविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते'—और इनमें उन्होंने बुद्धिकल्पित विश्लेष सिद्ध करके मूल सूत्र से ही अपादानत्व सिद्ध किया है। किन्तु, दीक्षित के मत में सूत्रस्थ 'प्रकृति' का अर्थ 'हेतु' मात्र है, उदाहरण उन्होंने दिया है—'पुत्रात् प्रमोदो जायते'। यह मत अधिक ग्राह्य और व्यापक है। इस तरह इस मत के ग्रहण से सूत्र की आवश्यकता भी सिद्ध होती है। वृत्तिकार ने सूत्र में झंझट से बचने के लिये उभयसाधारण उदाहरण दिया है—'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते'—जहाँ ब्रह्म 'हेतु' भी है और मायोपहितचैतन्यत्व के कारण सर्वकार्योपादान की हैसियत से 'उपादान कारण' भी है।

भुवः प्रभवः ।१।४।३१। भवनं भूः। भूकर्त्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गंगा प्रभवति। 'तत्र प्रकाशते' इत्यर्थः।

जिस प्रकार पूर्व सूत्र में 'जनि' की व्याख्या धातु रूप में नहीं करके संज्ञा रूप में की गई है उसी प्रकार इस सूत्र में भी वृत्तिकार की 'भवनं भूः' व्याख्या से स्पष्ट है कि उनका आशय 'भू' का संज्ञा रूप में ग्रहण करना है। तदनुसार 'भू' का आश्रयभूत 'प्रभव' अपादानसंज्ञक होता है। प्रभवति प्रथमं प्रकाशतेऽस्मिन्निति प्रभवः। 'प्रभव' कहते हैं उस 'स्थानादि' विषय को जहाँ पहले पहल कुछ दीख पड़े। अतः जहाँ कुछ होना हो वहाँ जिस स्थान से कुछ होता दीख पड़े उसमें अपादान संज्ञा होती है। उदाहरणस्वरूप 'हिमवान्' पर 'गंगा' के सर्वप्रथम दीखने से 'हिमवान्' शब्द में अपादाने पंचमी हुई है। वस्तुतः 'प्रभव' का भी अर्थ उत्पत्ति ही है लेकिन इस सूत्र की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये प्रायः इसका विशेष अर्थ कहा गया है। इसके अनुसार

---

१. महाभाष्यम्: १।४।३ अयमपि योगोऽशक्यवक्तुं शक्यः। कथम्? गोमयाद् वृश्चिका जायन्ते। गोलोमाऽविलोमभ्यो दूर्वा जायन्त इति। अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः।

जहाँ पूर्व सूत्र में 'मूल उत्पत्तिस्थान' में ही अपादान संज्ञा होती है वहाँ इस सूत्र में केवल 'प्रकाशन स्थान' में। इस प्रकार पूर्व-सूत्रस्थ उदाहरण में ब्रह्मा ही प्रजा की उत्पत्ति के आदि हैं किन्तु प्रस्तुत सूत्र में 'हिमवान्' गंगा की उत्पत्ति का आदि नहीं। वस्तुतः गंगा मानसरोवर से निकलती है। वह हिमालय पर केवल उत्पन्न होती दीख पड़ती है। इस प्रकार आपाततः कहीं उत्पन्न होने और कहीं से उत्पन्न होते दीख पड़ने में अन्तर है। मेरी समझ में पूर्वसूत्र की तरह यहाँ भी 'भू' को संज्ञा मानने की अपेक्षा धातु मानना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में √भू के कर्ता (Subject) का 'प्रभव' अपादान होगा। इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि पूर्व सूत्र के 'जनिकर्तुः' से यहाँ 'कर्तुः' की अनुवृत्ति होती है और उसका अन्वय 'भुवः' के साथ करने पर 'भुवः कर्तुः प्रभवः' सूत्र का अर्थ प्रतिपादित होता है। वस्तुतः भाष्यकार ने 'प्रभवति' का 'अपक्रामति' अर्थ देकर इस सूत्र को भी प्रत्याख्यात कर दिया है। पुनः उत्पन्न होने और उत्पन्न होते दीखने में इस दृष्टि से कम अन्तर प्रतीत होता है कि जो किसी स्थान में उत्पन्न होता—सा दीख पड़ सकता है वह वहाँ वस्तुतः उत्पन्न भी हो सकता है। इस हालत में दोनों सूत्रों में केवल दो अलग-अलग जन् और भू धातुओं (?) के प्रयोग प्रयुक्त अन्तर हो सकता है। फिर जिस प्रकार पूर्व सूत्र में केवल √जन् के प्रयोग में ही सीमाबन्धन नहीं है उसी प्रकार इस सूत्र में भी उपसर्गयुक्त या उपसर्गविहीन—किसी भी अवस्था में—√भू का प्रयोग अपेक्षित है।

ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च। प्रासादात् प्रेक्षते। आसनात् प्रेक्षते। 'प्रासादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षते' इत्यर्थः। श्वशुराज्जिह्रेति। श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः।

ल्यप् प्रत्यय लगा कर जहाँ लोप हो गया है वहाँ ल्यबन्त के साथ उस लोप के पूर्व कर्म या अधिकरण हो उसमें पंचमी विभक्ति हो जाती है। ल्यप् के लोप होने का मतलब ल्यबन्त का लोप होना है। ल्यबन्त के योग

कर्मत्वविवक्षा और अधिकरणत्वविवक्षा होने पर क्रमशः विशेष-विशेष धातु के योग में विशेष-विशेष प्रसंग में द्वितीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। फिर यदि ल्यबन्त का लोप हो जाता है तो उसके योग में जिस शब्द में द्वितीया या सप्तमी लगी रहती है, उसमें पंचमी हो जाती है। उदाहरण में 'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' में ल्यबन्त 'आरुह्य' शब्द के लोप होने पर 'प्रासाद' शब्द में जिसमें ल्यबन्त के लोप के पहले कर्म में द्वितीया थी, पंचमी हो जाती है—'प्रासादात् प्रेक्षते'—और उसी प्रकार 'आसने उपविश्य प्रेक्षते' की जगह 'आसनात् प्रेक्षते' हो गया है जहाँ ल्यबन्त के लोप होने पर अधिकरण की सप्तमी की जगह 'आसन' शब्द में पंचमी हो गई है। इसी तरह 'श्वशुरात् जेहेति' भी ल्यबन्त के लोप होने पर कर्मप्रयुक्त द्वितीयान्तत्व की जगह पञ्चम्यन्तत्व का उदाहरण है। वस्तुतः ऐसी-ऐसी स्थिति में ल्यबन्त लोप का भाव होने पर भी बुद्धिकृत विश्लेष का भाव स्पष्ट है। ल्यबन्त-लोप में जो यह पंचमी होती है उसको ल्यबर्थ-पंचमी कह सकते हैं क्योंकि किसी भी पूर्वोक्त उदाहरण में पञ्चम्यन्त शब्द में ल्यप् की स्थिति प्रतिभासित हो जाती है।

गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्।
कस्मात्त्वं ? नद्याः।

यहाँ बता देना आवश्यक है कि गम्यमान भी क्रिया किसी भी प्रासंगिक कारक विभक्ति का निमित्तभूत होती है। अतः यदि कोई क्रिया स्पष्टतः उक्त नहीं हो तो उसके रहने से जो विभक्ति उस प्रसंग में उसके योग में हो सकती थी वह होगी ही। वस्तुतः ऐसी गम्यमान क्रिया 'स्थानी' के रूप में रहती है जिसका स्थान रहता है—केवल स्पष्टतः प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार प्रसंगानुसार कोई भी गम्यमान क्रिया किसी भी विभक्ति की प्रयोजिका हो सकती है। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में 'कस्मात् त्वम्' के साथ 'आगतोऽसि' क्रिया गम्यमान है और 'नद्याः' के साथ 'आगतोऽस्मि' क्रिया। इसी प्रकार 'दान' के प्रसंग में यदि कोई पूछता है—'कस्मै ?'—तो अर्थ होता है—'कस्मै दीयते ?' और इसके उत्तर में 'विप्राय !' में भी 'दीयते' क्रिया गम्यमान होती है।

ऐसे ऐसे स्थल में वस्तुतः ऐसा कहना ठीक नहीं है कि गम्यमान क्रिया के प्रसंगानुसार ही कोई कारक विभक्ति होती है, बल्कि समझना चाहिये ऐसा कि किसी कारक विभक्ति से ही प्रसंगानुसार कोई विशेष गम्यमान क्रिया ध्वनित होती है। उदाहरणस्वरूप 'आगतोऽसि' के गम्यमान रहने पर ही 'कस्मात् त्वम्' के अन्तर्गत 'कस्मात्' शब्द में अपादान में पंचमी हुई' ऐसा कहना मुश्किल है। इसके विपरीत, यह स्पष्ट है कि 'कस्मात्त्वं' के रहने पर 'आगतोऽसि' क्रिया गम्यमान प्रतीत होती है। स्पष्टतः इस परिभाषा का प्रयोजन यहीं बतलाना है कि किसी साक्षात् क्रियायोग के रहने पर ही कोई कारकविभक्ति नहीं होती है बल्कि वह क्रियायोग यदि गम्यमान भी रहे तो भी साक्षात् योग से जो विभक्ति होती वह गम्यमान रहने पर भी होगी।

यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी। तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ। कालात्सप्तमी च वक्तव्या। वनाद् ग्रामो योजने योजनं वा। कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे।

पुनः जहाँ से 'अध्व' और 'काल' का परिमाण लिया जाय उसमें पंचमी होती है और उसके योग में आये अध्ववाची शब्द में प्रथमा और सप्तमी तथा कालवाची शब्द में केवल सप्तमी होती है। उदाहरण में 'वन' से 'ग्राम' तक के 'अध्व' का परिमाण लेने से 'वन' शब्द में पंचमी और 'अध्व' के परिमाणवाची 'योजन' शब्द में विकल्प से प्रथमा और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ हुई हैं अतः 'वनाद् ग्रामः योजने' भी हो सकता है और 'वनाद् ग्रामः योजनम्' भी। इसी प्रकार 'कार्त्तिकी से' 'आग्रहायणी' तक के काल का परिमाण लेने से कार्त्तिकी शब्द में पंचमी तथा काल के परिमाणवाची 'मास' शब्द में सप्तमी हुई है। वस्तुतः साधारणतया लौकिक व्यवहार में अपभ्रंश में भी कहा जाता है—'वन से गाँव एक योजन पर है' या 'वन से गाँव एक योजन है' पर जिस प्रकार व्यवहार में 'कार्त्तिक से अगहन एक मास पर है'—सिद्ध होता है उस प्रकार 'कार्त्तिक से अगहन एक मास है—इस वाक्य के अनुरूप संस्कृत में 'कार्त्तिक्याः आग्रहायणी मासः' सिद्ध नहीं होगा।

यहाँ 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी' के प्रसंगवश ही 'तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ' और 'कालात् सप्तमी च वक्तव्या' कह दिये गये हैं। वस्तुतः 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी' के अन्तर्गत दो वाक्यांश हैं—'यतश्चाध्वनिर्माणं तत्र पंचमी' और 'यतश्च कालनिर्माणं तत्र पंचमी'। इनमें 'अध्वनिर्माण', 'कालनिर्माण' और 'जहाँ से अध्वकाल-निर्माण हो'—ये वाच्य हैं। इसलिये तत्-तद्वाची शब्द से ही तत्-तद् विभक्ति लगाने का तात्पर्य है। फिर 'जहाँ से अध्वनिर्माण' होगा, तद्वाची शब्द अवश्य ही स्थानवाची होगा और 'जहाँ से कालनिर्माण होगा' तद्वाची कालवाची होगा। अतएव उदाहरणों में क्रमशः स्थानवाची 'वन' शब्द से और कालवाची 'कार्त्तिकी' शब्द से ही पंचमी हुई है।

अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ।२।३।२९। एतैर्योगे पंचमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद् वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न, 'तस्य परमाम्रेडित'मिति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य ।

अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक् शब्द, अञ्चूत्तरपद तथा आच् और आहि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में पंचमी होती है। सूत्र में 'अन्य' शब्द के साथ 'इतर' शब्द का ग्रहण इस बात के स्पष्टीकरणार्थ हुआ कि न केवल 'अन्य' शब्द के योग में, बल्कि इसके पर्याय अन्य शब्दों के योग में भी पंचमी होती है। वस्तुतः 'अवर' अर्थवाले 'इतर' शब्द के योग में पंचमी की सिद्धि 'पंचमी विभक्ते' सूत्र से ही हो जाती है। इसीलिये उदाहरण में 'अन्य' के पर्यायवाची 'भिन्न' शब्द के योग में भी पंचमी दिखलाई गई है। इसके अलावे, 'आरात्' और 'ऋते' अव्यय पदों के योग में भी यह विभक्ति

होती है। इनमें 'आरात्' का अर्थ प्रसंगानुसार 'समीप' और 'दूर' दोनों होता है तथा 'ऋते' भिन्नार्थक है। किन्तु, तब 'फलति पुण्याराधनमृते' प्रयोग कैसे सिद्ध होगा? वस्तुतः हरदत्त के अनुसार यह प्रयोग प्रमादवश है। लेकिन कुछ अन्य वैयाकरण यहाँ 'ऋते' शब्द के योग में द्वितीया की सिद्धि करते हैं। चन्द्र-व्याकरण में इसी भाव की पुष्टि मिलती है।[1] अब 'दिशा' के अर्थ में रूढ़ कोई भी शब्द पारिभाषिक रूप से (Technically) दिक् शब्द कहलाता है। इसलिये केवल पूर्व, उत्तर आदि रूढ़ दिशावाची शब्दों के योग में ही पंचमी होगी, न कि ऐन्द्री, याम्यी आदि लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त दिशावाची शब्दों के योग में भी। पुनः 'दिशा' शब्द स्थान (Space) और काल (Time) दोनों का बोधक होता है। अतः उदाहरण में 'पूर्वो ग्रामात्' में 'ग्राम के पूर्व दिशास्थित स्थान' और 'चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः' से 'कालरूप्या चैत्र से पूर्व फाल्गुन' का बोध होता है। इसके विपरीत, कभी-कभी ऐसे शब्द अवयववाची होते हैं जैसे 'पूर्वं कायस्य' में, लेकिन इनके योग में पंचमी नहीं होती। यह पंचमी का प्रतिषेध वस्तुतः 'तस्य परमाम्रेडितम्'[2] सूत्र के ज्ञापन के आधार पर होता है।

अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थे'ति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यक् वा ग्रामात्। आच्—दक्षिणा ग्रामात्। आहि—दक्षिणाहि ग्रामात्। 'अपादाने पंचमी'ति सूत्रे 'कार्त्तिक्याः प्रभृती'ति भाष्यप्रयोगात् प्रभृतियोगे पंचमी। भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहि'रिति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पंचमी, ग्रामाद् बहिः।

फिर, √अञ्चु जिन शब्दों के उत्तरपद में हो उनको 'अञ्चूत्तरपद' कहते हैं। ये शब्द 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि हैं जिनमें प्र + √अञ्चु, प्रति + √अञ्चु आदि में

---

१. चन्द्र- ऋते द्वितीया च।

२. पाणिनि ८।१।२।

उपर्युक्त प्रत्यय से व्युत्पत्ति करने पर स्पष्ट दीख पड़ता है कि पूर्वपद 'प्र' 'प्रति' हैं और उत्तरपद 'अञ्चु'। इस प्रकार यद्यपि 'सम्यक्' आदि शब्द भी अञ्चूत्तरपद हैं लेकिन यहाँ 'अञ्चूत्तरपद' का तात्पर्य्य केवल दिशावाची प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से ही है। किन्तु जब सूत्र में 'दिक्शब्द' का पृथक् करके ग्रहण है ही तो उसका अन्वय 'अञ्चूत्तरपद' के साथ करके इसकी परिधि में केवल 'दिशावाची अञ्चूत्तरपद' के समावेश की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन'[1] सूत्र से प्राप्त षष्ठी को बाधित करने के लिये ही ऐसा किया गया है। पुनः आच् और आहि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में भी पंचमी होती है। ये प्रत्यय बहुधा दिशावाची शब्दों से ही लगते हैं और इनसे बने शब्द अव्यय होते हैं। सचमुच सूत्र में 'दिक्शब्द' का ग्रहण रहने पर भी जो इन प्रत्ययों से व्युत्पन्न दिशावाची शब्दों के योग में पंचमी का विधान किया गया है वह तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार चिन्त्यप्रयोजन है। इसके विपरीत, बालमनोरमाकार के अनुसार यह 'षष्ठ्यतसर्थ—' सूत्र से प्राप्त षष्ठी के बाधनार्थ ही है। वस्तुतः इस सूत्र को भी दो अंशों में विभाजित किया जा सकता है—'अन्यारादितरर्त्ते' और 'दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते'। इनमें पूर्व अंश में ऐसे शब्द हैं जिनके योग में अलग-अलग पंचमी का विधान हुआ है। किन्तु दूसरे अंश में ऐसे शब्द हैं जिनमें पूर्व 'दिक्शब्द' का अन्वय बादवाले 'अञ्चूत्तरपद' तथा 'आच्' और 'आहि' में करने से सूत्र की व्याख्यागत कठिनाइयाँ बहुत-कुछ हल हो जाती हैं। और इससे 'षष्ठ्यतसर्थ—' सूत्र से प्राप्त षष्ठी को बाधित करने के लिये 'अञ्चूत्तरपद' तथा 'आच्' और 'आहि' प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के साथ अपनी ओर से 'दिशावाची' के अन्वय का कोई अवसर ही नहीं आता।

लेकिन 'बहिः' और 'प्रभृति' शब्द के योग में कौन-सी विभक्ति होती है? वस्तुतः किसी भी सूत्र या वार्त्तिक में इसका समाधान नहीं हुआ है और यह समस्या दीक्षित इसी सूत्र की वृत्ति के क्रम में ज्ञापन के आधार पर हल करते हैं। इसके अनुसार इन शब्दों के योग में पंचमी ही होती है। यह पंचमी

---

१. पाणिनि: २।३।३०।

विभक्ति 'बहिः' के योग से ज्ञापित होती है 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या'[1] सूत्र से। इसके अन्तर्गत अव्ययीभाव में 'बहिः' शब्द का समास पञ्चम्यन्त पद के साथ करने को कहा गया है और जब 'बहिः' के योग में पंचमी होगी तब न पंचमी विभक्तियुक्त पद के साथ इसका समास होगा? परन्तु 'कास्त करमो बहिः' प्रयोग कैसे सिद्ध होता है? वस्तुतः, यहाँ वैयाकरण सामान्यतः 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' परिभाषा सामने रखते हैं—चूँकि 'बहिः' के योग में पञ्चमी 'ज्ञापक' के आधार पर होती है और 'ज्ञापक' से जो सिद्ध होता है वह सर्वत्र अनिवार्य रूप से लागू नहीं होता इसलिये कुत्रचित् अन्य विभक्ति भी हो सकती है। लेकिन मेरी समझ में 'बहिः' का सीधा सम्बन्ध 'कारस्' के साथ नहीं है, अपितु 'करम' के साथ है। ऐसी स्थिति में 'बहिः' विशेषित करेगा 'करम' को और उसका अर्थ होगा 'बहिर्भाग'। इस तरह 'करम' के योग में 'कर' शब्द से षष्ठी भी सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार 'अपादाने पञ्चमी' सूत्र के अन्तर्गत व्याख्यान के अवसर पर भाष्यकार द्वारा 'कार्त्तिक्याः प्रभृति' प्रयोग करने से 'प्रभृति' शब्द के योग में भी पंचमी ज्ञापित होती है। इसीपर टीका करते हुए कैयट के 'तत आरभ्येत्यर्थः' वचन से यह स्पष्ट होता है कि न केवल 'प्रभृति' के योग में, प्रत्युत उसके पर्यायवाची अन्य शब्दों के योग में भी पंचमी होगी। परन्तु 'आरभ्य' शब्द के योग में कर्मविवक्षा रहने पर पंचमी के साथ द्वितीया भी हो सकती है। यह इसलिये चूँकि इसके अन्तर्गत आ + √रभ् है और इससे क्रियायोग सूचित होता है। फिर, क्रियान्वित रहने पर तो कारकविभक्ति हो ही सकती है।

अपपरी वर्जने ।१।४।८८। एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः

अप और परि उपसर्ग वर्जन के अर्थ में कर्मप्रवचनीय होंगे। 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—' सूत्र में लक्षण आदि के अर्थ में 'परि' के कर्मप्रवचनीयत्व का प्रसंग है। साथ इस सूत्र में इसके कर्मप्रवचनीयत्व की उक्ति है। अवश्य ही इसका सम्बन्ध अनुगत 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र से है। यद्यपि इसके तथा अन्य इन उपसर्गों के योग में द्वितीया के अपवादस्वरूप पञ्च

१. पाणिनि : २।१।१२।

का विधान होता है। सूत्र में यद्यपि 'अप' का सम्बन्ध 'वर्जन' के साथ आसानी से स्थापित किया जा सकता है तथापि 'परि' उपसर्ग में यह अर्थ ढूँढ़ निकालना कठिन प्रतीत होता है।

आङ्मर्यादावचने ।१।४।८९। आङ्मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

मर्यादा उच्यतेऽनेनेति मर्यादावचनम् । 'आङ्' के मर्यादार्थकत्व का विधान करने के कारण 'आङ्मर्यादाभिविध्योः'[१], सूत्र ही 'मर्यादावचन' सूत्र कहलायगा। अतएव प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'मर्यादा' और 'अभिविधि' दोनों अर्थों में आङ् उपसर्ग कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होगा, यद्यपि 'मर्यादावचन' शब्द से आपाततः मालूम पड़ता है मानो केवल 'मर्यादा' अर्थ में ही ऐसा होता हो। वस्तुतः 'मर्यादा' और 'अभिविधि' यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में गृहीत हैं। इनमें 'मर्यादा' का अर्थ है—'तेन विना' और 'अभिविधि' का अर्थ है—'तेन सह'। दूसरे शब्दों में 'मर्यादा' में किसी प्रासंगिक विषय का 'वर्जन' होता है और 'अभिविधि' में उसका 'ग्रहण'।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।२।३।१०। एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात् । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

इन 'अप', 'आङ्' तथा 'परि' कर्मप्रवचनीयों के योग में पंचमी विभक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप 'अप हरेः संसारः' और 'परि हरेः संसारः' का अर्थ है—हरिं वर्जयित्वा संसारः'। तात्पर्य है—'हरि की स्थिति कूटस्थ है'। अतः यहाँ 'परि' और 'अप' वर्जनार्थक हैं। इसके विपरीत, 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—' सूत्र के अनुसार लक्षणादि के अर्थ में 'परि' के योग में द्वितीया होगी। पर यह बता देना आवश्यक है कि वृत्ति में कर्मप्रवचनीय के रूप में 'अप' का प्रत्युदाहरण इसलिये नहीं दिया गया चूँकि अन्यथा कहीं भी किसी अन्य अर्थ में यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं लेता। सूत्र में 'अप' तथा 'परि' के साथ 'आङ्' कर्मप्रवचनीय का भी समाहार हुआ है। अन्तर यह है कि जहाँ 'अप'

---

१. पाणिनि : २।१।१३।

और 'परि' केवल वर्जनार्थक है यहाँ 'आङ्' वर्जनार्थक तथा ग्रहणार्थक दोनों हैं। अतः 'आ मुक्तेः संसार' का अर्थ है—'मुक्तिं वर्जयित्वा संसारः', लेकिन 'आ सकलाद् ब्रह्म' का अर्थ है—'सकलं व्याप्य ब्रह्म'। इस तरह हम सूत्र का हम 'अपपरी वर्जने' तथा 'आङ्मर्यादावचने' सूत्रों को विभक्तिविधायक सूत्र कह सकते हैं।

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ।१।४।९२। एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

इन 'प्रतिनिधि' और 'प्रतिदान' अर्थों में 'प्रति' उपसर्ग कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है। वस्तुतः किसी के 'सदृश' को उसका प्रतिनिधि कहते हैं तथा 'प्रदत्त का प्रतिनिर्यातन' कहलाता है प्रतिदान।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।२।३।११। अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पंचमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

इस सूत्र के अनुसार, जिससे कोई 'प्रतिनिधि' हो तथा जिससे दान के बदले 'प्रतिदान' किया जाय उसमें उपर्युक्त सूत्र से विहित कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में पंचमी होती है। इस प्रकार उदाहरणों में 'प्रति' क्रमशः 'प्रतिनिधित्व' तथा 'प्रतिदानत्व' का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, 'प्रति' के योग में प्राप्त पंचमी का अर्थ प्रथम उदाहरण में 'सादृश्य' और द्वितीय में 'प्रतिदान' है। अतः वस्तुतः 'प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति' का अर्थ है– प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं' और 'तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्' का अर्थ है—'तिल लेने के बदले में माष देता है'। दूसरे उदाहरण में कर्मप्रवचनीय होने के कारण प्रति' को 'यच्छति' क्रिया से पृथक् समझना चाहिये। वस्तुतः उपसर्ग की अवस्था में इसे क्रियायोग में रखने पर भी प्रयोग में कोई अन्तर नहीं आयेगा। तब जहाँ 'प्रतिदान' का अर्थ है वहाँ जिसके बदले में कुछ दिया जाय तद्वाची शब्द में पंचमी विभक्ति होगी 'इस आशय के द्योतनार्थ हम इस सूत्र का प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं। पुनः इस सूत्र को हम पूर्वसूत्र का पूरक मान सकते हैं। किन्तु ऐसी अवस्था में दोनों सूत्रों में 'प्रतिनिधि प्रतिदान' शब्दों का प्रयोग पुनरुक्त सा लगता है पर इससे एक विशेष प्रयोजन की भी सिद्धि होती है। वह यह कि 'यस्मात्

शब्द के प्रयोग से इसी सूत्र से ज्ञापित होता है कि 'प्रतिनिधि' और 'प्रतिदान' शब्दों के योग में पंचमी होती है। लेकिन तब 'कृष्णस्य प्रतिनिधिः' प्रयोग कैसे होगा? वस्तुतः तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' परिभाषा के आधार पर ही ऐसा हो सकता है। परन्तु मेरी समझ में कृद्योग-षष्ठी[1] यहाँ सब से उपयुक्त होगी, अन्यथा शेषत्वविवक्षा तो अन्तिम अस्त्र होगी। सचमुच व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे स्थल में पंचमी की अपेक्षा षष्ठी ही अधिक उपयुक्त लगती है। फिर पंचमी के सिद्धयर्थ कुछ अतिरिक्त पदार्थ का अन्वय भी करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप 'कृष्णात् प्रतिनिधिः प्रद्युम्नः' का अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक 'कृष्णात् आगतः प्रतिनिधिः प्रद्युम्नः' ऐसा अर्थ नहीं समझते। फिर पूर्वगत सूत्र में कहा गया है कि 'प्रतिनिधि' तथा 'प्रतिदान' अर्थ रहने पर 'प्रति' कर्मप्रवचनीय होगा और प्रस्तुत सूत्र में कहा है कि जिससे 'प्रतिनिधि' या 'प्रतिदान' हो उसमें पंचमी होगी। अतः यद्यपि यह द्योतित होता है कि 'प्रतिनिधि' या 'प्रतिदान' के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रति' कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी होगी तथापि यह स्पष्टतः कथित नहीं होता। वस्तुतः इस सूत्र में प्रयुक्त 'यस्मात्' शब्द के प्रयोग से ऐसा स्पष्ट प्रतिभासित होता है। अतः यदि 'प्रतिनिधि' तथा 'प्रतिदान' शब्द के योग में पंचमी होगी तो 'प्रतिनिधि' या 'प्रतिदान' अर्थवाले 'प्रति' के योग में भी यह होगी।

अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी ।२।३।२४। कर्त्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पंचमी स्यात्। शताद् बद्धः। अकर्त्तरि किम्? शतेन बन्धितः।

जो ऋणवाची शब्द कर्त्ता के अर्थ में नहीं हो एवं हेतुभूत हो उसमें पंचमी होती है। अर्थात् किसी वाक्य-प्रयोग में यदि कर्त्ता—प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूप से कथित नहीं हो और ऋण ही बन्धनादि क्रिया का हेतु हो तो ऋण-वाची शब्द में पंचमी विभक्ति होगी। उदाहरण स्वरूप, 'शताद् बद्धः' में 'शत' परिमित ऋण का बोध होता है जो बन्धन क्रिया का हेतुभूत है और कर्त्तृवर्जित

---

१. पाणिनिः २।३।६५ कर्त्तृकर्मणोः कृति : विधायक सूत्र।

वन्धन क्रिया का 'हेतु' है। वस्तुतः इस सूत्र की परिधि में वैकल्पिक पंचमी के लिये हेतुभूत होने के साथ-साथ किसी शब्द का गुणवाची एवं स्त्रीलिंग भिन्न—नपुंसक या पुंल्लिंग—होना आवश्यक है अन्यथा केवल स्त्रीलिंग-भिन्न हेतुभूत रहने पर गुणवाचकत्व के अभाव में तथा गुणवाची हेतुभूत रहने पर स्त्रीलिंग-भिन्नता के अभाव में (अर्थात् स्त्रीलिंग रहने पर) केवल तृतीया ही होगी। यह बात वृत्तिस्थ 'धनेन कुलम्' और 'बुद्ध्या मुक्तः' प्रत्युदाहरणों में क्रमशः दिखलाई गई है। लेकिन यह नियम नित्य नहीं है। व्यवहार में कभी-कभी इसके विरुद्ध अगुणवाची तथा स्त्रीलिंग शब्दों में भी 'हेतु' अर्थ रहने पर पंचमी देखी जाती है। वृत्तिकार ने इनके क्रमशः उदाहरण दिये हैं—'धूमादग्निमान्' और 'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः'। किन्तु प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा होता है तब तो सूत्र अपूर्ण और एकांगी है। फिर, कात्यायन ने भी किसी वार्तिक के द्वारा इस अभीष्ट की सिद्धि नहीं की है। इसलिये वृत्तिकार को योग-विभाग का आश्रय लेकर समस्या का समाधान करना पड़ा है।

इनके अनुसार यदि सूत्र में हम अतिरिक्त भाग से 'विभाषा' का योग-विभाग कर लेते हैं तो इष्ट की सिद्धि हो जाती है। इस तरह वस्तुतः 'विभाषा' पंचमी के साथ लागू होने के साथ-साथ (जिससे विकल्प पक्ष में तृतीया भी होती है) सूत्रस्थ 'गुणे' और 'अस्त्रियाम्' के साथ भी लग जाती है जिससे गुणवाची तथा स्त्रीलिंग-भिन्न हेतुभूत शब्द में होने के साथ कतिपय स्थलों में अगुणवाची एवं स्त्रीलिंग-हेतुभूत शब्द में भी वैकल्पिक पंचमी जायज कही जा सकती है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'धूम' अगुणवाची शब्द है जिसमें पंचमी हुई है और 'अनुपलब्धि' क्तिन्-प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द। इनमें 'धूम' और 'अग्नि' तथा 'अनुपलब्धि—' और 'घटाभाव' के बीच हेतुकार्य्यभाव (cause-effect relation) है, यद्यपि यह कोई स्थिर सम्बन्ध नहीं है क्योंकि 'धूम' अग्नि का लिंगभूत हेतु होने पर भी वस्तुतः उसका कार्य्य ही है। इस प्रकार पूर्वसूत्र में जहाँ हेतुभूत पदार्थ का ऋणवाची तथा कर्त्तृवर्जित होना आवश्यक है वहाँ तो यहाँ सूत्रानुसार उसका गुणवाची एवं स्त्रीलिंगभिन्न होना आवश्यक प्रतीत होता है, पर अन्ततः कुछ ऐसे स्थल

मिलते हैं जहाँ अगुणवाची एवं स्त्रीलिंग-हेतुभूत शब्दों में भी यह वैकल्पिक पंचमी होती है और इसलिये कुछ हद तक इसे सामान्यतः 'हेतुपंचमी' का क्षेत्र माना जा सकता है। पुनः पूर्वसूत्र की पंचमी नित्य है जबकि इस सूत्र में यह तृतीया के विकल्पस्वरूप होती है। किन्तु जब गुणवाची एवं अगुणवाची, स्त्रीलिंगभिन्न एवं स्त्रीलिंग दोनों ही तरह के हेतुभूत पदार्थों में 'हेतुतृतीया' की विभाषा में 'हेतुपंचमी' होता है तो पूर्वसूत्र की परिधि से बाहर (अर्थात् कर्तृवर्जित ऋणवाची हेतुभूत को छोड़कर) किसी भी शब्द के साथ 'हेतु' अर्थ रहने पर तृतीया के साथ पंचमी भी हो सकती है, ऐसा हम क्यों नहीं कहते? वस्तुतः इस बात के स्पष्टीकरण के प्रसंग में वृत्तिस्थ 'क्वचित्' शब्द से वृत्तिकार का विपरीत आशय ध्वनित होता है, लेकिन अर्वाचीन व्यवहार में ऐसी कोई कड़ाई बरती नहीं जाती।

पृथग् विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।३२। एभिर्योगे तृतीया स्यात्पंचमी द्वितीये च। अन्यतरस्याङ्ग्रहणं समुच्चयार्थम्। पंचमीद्वितीये अनुवर्तेते। पृथक् रामेण रामाद्रामं वा एवं विना नाना।

'पृथक्', 'विना' और 'नाना' शब्दों के योग में पंचमी तथा द्वितीया विभक्तियाँ तृतीया के विकल्प में होती हैं। अष्टाध्यायी में 'अपादाने पंचमी'[1] 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन,'[2] 'एनपा द्वितीया'[3] और इसके बाद यह सूत्र—यही क्रम है। इनमें अस्वरितत्व के कारण षष्ठी की अनुवृत्ति नहीं होती, अतः पंचमी की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से होती है। और द्वितीया संनिहित ही है। इस सूत्र में प्राप्त 'पृथक्' 'विना' और 'नाना' सभी वर्जनार्थक हैं[4] और अव्यय हैं। लेकिन तब सभी का उपादान एक ही के अन्तर्गत क्यों न किया गया? वस्तुतः ऐसा करने से इनके अतिरिक्त भी अन्य पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण

---

१. पाणिनि २।३।२८।
२. ,, : २।३।३०।
३. ,, : २।३।३१।
४. 'हिरुङ् नाना च वर्जने'—अमरकोश।

हो जाता। यह अभीष्ट नहीं था। लेकिन तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'नानाञ्' प्रत्यय से निष्पन्न 'विना' और 'नाना शब्दों का ग्रहण कम-से-कम किसी एक के अन्तर्गत हो सकता था। वस्तुतः वर्जनार्थक 'नाना' शब्द का प्रयोग दुर्लभ है। 'नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा'—इसका एक प्रचलित प्रयोग उपलब्ध है। पुनः व्यवहार में 'पृथक्' के योग में पंचमी का अधिक, तृतीया का कम तथा द्वितीया का नहीं के बराबर प्रयोग मिलता है।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ।२।३।३३।
एयोऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीया-पञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः । द्रव्ये तु, स्तोकेन विषेण हतः ।

अद्रव्यवाची 'स्तोक', 'अल्प,' 'कृच्छ्र' और 'कतिपय' शब्दों से करण के अर्थ में वैकल्पिक पंचमी होगी। अतः पंचमी के अभाव पक्ष में तृतीया होगी। उदाहरण में 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्यविशेष के लिये नहीं आया है, अत एव उसमें विकल्प से दोनों विभक्तियाँ दिखलाई गई हैं। लेकिन प्रत्युदाहरण में यह द्रव्यभूत 'विष' को विशेषित करता है, इसीलिये उसमें केवल करणे तृतीया है। बालमनोरमाकार ने 'स्तोकेन मुक्तः' या 'स्तोकात् मुक्तः' की व्याख्या की है—'लघुना आयासेन मुक्तः'—और कहा है कि 'आयास' के द्रव्य नहीं होने के कारण ही वैकल्पिक पंचमी हुई है। किन्तु, मेरी समझ में वस्तुतः द्रव्य या अद्रव्य विषय के गम्यमान रहने पर ही वैकल्पिक पंचमी होगी। अथवा साधारणतया क्रिया-विशेषण (Adverb) के रूप में प्रयोग की अवस्था में भी ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः अद्रव्यवाची 'आयास' शब्द का स्पष्ट प्रयोग करने पर भी वैकल्पिक पंचमी ठीक नहीं जँचती क्योंकि जिस प्रकार 'स्तोकेन आयासेन कृतः' व्यवहार में संगत लगता है उस प्रकार 'स्तोकाद् आयासात् कृतः' नहीं। वस्तुतः मेरी समझ में सूत्रस्थ 'असत्त्ववचन' में 'असत्त्व' का पर्युदास अर्थ 'द्रव्यभिन्न' नहीं लेकर 'द्रव्याभाव' लेना चाहिये क्योंकि 'द्रव्यभिन्न' अर्थ लेने पर 'भाव' का भी ग्रहण हो जायगा और उसके अन्तर्गत 'आयास' का भी ग्रहण हो सकता है। अतः सूत्र में परिगणित

विशेषण-रूप शब्दों के साथ-द्रव्यवाची या अद्रव्यवाची किसी भी विशेष्यपद का प्रयोग नहीं होना चाहिए, भले ही वे गम्यमान हों।

पुन जैसा ऊपर कहा है, इन शब्दों का किसी द्रव्यवाची या अद्रव्यवाची को विशेषित करना कोई आवश्यक नहीं है। ऐसी अवस्था में इनका प्रयोग क्रिया-विशेषण की तरह होगा। अत बालमनोरमाकार की व्याख्या से पृथक् मेरे अनुसार 'स्तोकेन मुक्त' या 'स्तोकात् मुक्त' का अर्थ होगा—'स्तोक' यथा स्यात् तथा मुक्त'। इसलिए इस दृष्टि से देखने पर उक्त दो भेदों के साथ 'स्तोक मुक्त' प्रयोग भी निष्पन्न होगा। फिर सूत्रस्थ परिगणित शब्दों के बीच 'कृच्छ्र' शब्द विशेषता रखता है। यह संज्ञा और विशेषण दोनों ही रूप में प्रयुक्त होता है। अत यद्यपि विशेषण-रूप में इस का व्यवहार समान होगा तथापि संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने पर न क्रिया विशेषण की हैसियत से उपर्युक्त विवेचनानुसार तृतीया एवं पंचमी विभक्तियाँ लग सकती हैं और न अन्य तरह से। लेकिन 'हेतु' अर्थ द्योतित होने पर ये दोनों विभक्तियाँ इसमें लग सकती हैं।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च।२।३।३५। एभ्यो द्वितीया स्याच्चात् पञ्चमी-तृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा। अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवृत्तेर्नेह—दूरः पन्थाः।

'दूर' और 'अन्तिक' (नजदीक) अर्थवाले शब्दों में द्वितीया, तृतीया और पंचमी विभक्तियाँ होती हैं। सूत्र में तृतीया और पंचमी की अनुवृत्ति 'च' कार के बल पर अभिप्रायत पूर्व सूत्र से होती है। फिर, यह 'दूर' तथा 'अन्तिक' के पर्यायवाची शब्दों में द्वितीयादि कथित विभक्तियों का विधान प्रातिपदिकार्थ-मात्र में होगा। इसलिए ये विभक्तियाँ प्रथमा के अपवाद-स्वरूप होंगी। पुन इस सूत्र की अनुवृत्ति 'सप्तम्यधिकरणे च'[१] सूत्र में होने के कारण द्वितीया, तृतीया और पंचमी के साथ इन शब्दों में सप्तमी विभक्ति

---

१. पाणिनिः २।३।३६।

भी होती है। लेकिन इनके योग में 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्'[1] सूत्र से षष्ठी के साथ वैकल्पिक पंचमी होती है। अत एव इन शब्दों में प्राप्त तथा इनके योग में प्राप्त विभक्तियों का यथाक्रम परस्पर समावेश करने पर एक ही अर्थ में निम्न प्रयोग सम्भव हो सकते हैं—ग्रामस्य दूरं, ग्रामस्य दूरेण, ग्रामस्य दूरात् एवं ग्रामस्य दूरे तथा ग्रामाद् दूरं, ग्रामाद् दूरेण, ग्रामाद् दूरात् एवं ग्रामाद् दूरे। इसी आधार पर वस्तुतः 'दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्' प्रयोग ठीक है जहाँ साधारण 'आवसथस्य दूरे' के स्थान में 'आवसथाद् दूरात्' हुआ है। किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण के बाद पता चलेगा कि 'दूर को, दूर से, दूर में—आदि अर्थों की प्रतिरूपक द्वितीयादि विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रासंगिक अर्थों में होती है। उदाहरण-स्वरूप 'ग्रामस्य दूरं गच्छति' का तात्पर्य होगा—'ग्राम के दूर प्रदेश के अभिमुख गमन, लेकिन 'ग्रामस्य दूराद् गच्छति' प्रयोग से सूचित होगा—'ग्राम के दूर प्रदेश से अन्य प्रदेश के अभिमुख गमन'। इसी प्रकार 'ग्रामस्य दूरेण' से 'ग्राम के दूर प्रदेश से होकर' और 'ग्रामस्य दूरे' से अधिकरणत्व-विवक्षा में 'ग्राम के दूर प्रदेश में' गमनादि क्रिया सूचित होगी। पुनः जब 'ग्राम' से उस दूर प्रदेश की सम्बधविवक्षा होगी तो उसमें षष्ठी अन्यथा गमनादि क्रिया के द्वारा अपादानत्वविवक्षा होने पर पंचमी होगी।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'असत्त्ववचनस्य' की भी अनुवृत्ति होती है। तदनुसार पूर्व अर्थ में किसी द्रव्य विशेष को विशेषित न करने पर ही ये विभक्तियाँ होंगी। अन्यथा जो विभक्ति विशेष्य में होगी वही विशेषण में भी होगी, इसलिये सूत्रस्थ प्रत्युदाहरण 'दूरः पन्थाः' के सदृश 'दूरे पथि', 'दूरेण पथा' आदि प्रयोग भी मजे में संभव हो सकते हैं। अतः इस सम्बन्ध में स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार यहाँ विहित विभक्तियों से युक्त 'दूर' तथा 'अन्तिक'—या इन के पर्य्यायवाची शब्द वस्तुतः तत्तद् विभक्ति से तत्तद् गम्यमान पदार्थ को विशेषित करते हैं। अतः 'ग्रामस्य दूरेण' का वास्तविक अर्थ है—'ग्रामस्य दूरेण स्थानेन'।

—:o:—

१. पाणिनिः २।३।३४।

सम्बन्ध : षष्ठी विभक्ति

षष्ठी शेषे ।२।३।५०। कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ।

उक्तादन्यः शेषः । उक्त अपादानादि कारक और प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त स्वस्वामिभावादि रूप 'सम्बन्ध' ही शेष है। इसलिये इस सूत्र से स्वस्वामिभावादि रूप सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती है। उदाहरण-स्वरूप 'राजन्' और 'पुरुष' के बीच स्वस्वामिभाव रहने के कारण ही 'राज्ञः पुरुषः' प्रयोग में 'राजन्' शब्द में षष्ठी पाते हैं। यहाँ 'पुरुष' प्रधान है, प्रातिपदिकार्थ है, अतः शेष नहीं है। शेष है 'राजन्' जो अप्रधान है और कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त है, अतः 'राजन्' शब्द में ही षष्ठी हुई। लेकिन यदि 'पुरुष' की अप्रधानता और 'राजन्' की प्रधानता द्योतित हो तो 'पुरुषस्य राजा' प्रयोग भी हो सकता है। किन्तु ऐसी स्थिति में अर्थ होगा—'पुरुषनिरूपितमैत्र्यस्वसम्बन्धवान् राजा'। अन्यथा पूर्वकथनानुसार 'पुरुष' की प्रधानता करने पर 'राज्ञः पुरुषः' का अर्थ होगा—'राजनिरूपितसेवकत्वसम्बन्धवान् पुरुषः'। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह प्रधानता या अप्रधानता शब्द शास्त्र के दृष्टिकोण से होती है। अन्यथा 'राज्ञः पुरुषः' में लौकिकरूपेण 'राजा' की ही प्रधानता दीखती है[1]। फिर यह भी देख लेना है कि स्वस्वामिभाव में 'स्व' का अर्थ सर्वथा 'धन' है किन्तु शास्त्रिकरूपेण 'स्वत्व' अधीनत्व को बतलाता है

---

१ मिलाइये : 'यद्दुक्तेऽन्यपाने' पर विवेचन।

या, कह सकते हैं कि जो कुछ भी वैध रूप से किसी के अधीन होता है वह उसकी सम्पत्ति कहलायगा।

यह देखकर कि 'राज्ञः पुरुषः' आदि में सम्बन्ध में अप्रधान में ही 'राजन्' शब्द में षष्ठी होती है--कुछ वैयाकरणों ने कहा—'अप्रधानं शेषः'। यह भ्रम है। वस्तुतः केवल अप्रधान में नहीं, अपितु कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त अप्रधान में षष्ठी होती है। फिर इस मन्तव्य से परिभाषा में दूसरी हानि उपस्थित हो जाती है। वस्तुतः सभी जगह अप्रधान में षष्ठी नहीं होती। उदाहरणस्वरूप 'शुक्लः पटः' में 'शुक्ल' शब्द विशेषण होने के कारण अप्रधान तो जरूर है, पर उसमें षष्ठी का प्रसंग नहीं। वहाँ प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हुई है। इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक है कि न केवल कारकप्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्त स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में, वरन् कर्मादि कारक की सम्बन्ध-विवक्षा में भी षष्ठी होती है। इसी अभीष्ट से भाष्यकार ने 'क्तस्य च वर्त्तमाने'[1] सूत्र के व्याख्याक्रम में कहा—'कर्मत्वादीनामविवक्षा शेषः'[2] इसके अनुसार 'सतांगतम्' में 'सद्भिर्गतम्' की जगह अनुक्तकर्त्ता की शेषत्व-विवक्षा में षष्ठी हुई है। इसका अर्थ हुआ—'सत्सम्बन्धिगमनम्'। इसी प्रकार 'सर्पिषो जानीते' और फलानां तृप्तः' में करणत्व की तथा 'मातुः स्मरति', एधो दकस्योपस्कुरुते' और 'भजे शम्भोश्चरणयोः' में कर्मत्व की सम्बन्धविवक्षा में षष्ठी हुई है।

किन्तु जब शेष षष्ठी इसी सूत्र से सिद्ध हो जाती है तो अलग करके 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'[3], 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि'[4], 'कृञः प्रतियत्ने'[5], 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः'[6], 'आशिषि नाथः'[7], 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसा-

१. पाणिनि : २।३।६४।

२. महाभाष्यम् : २।३।२६।

३. पाणिनि : २।३।५१।

४. ,, : २।३।५२।

५. ,, : २।३।५३।

६. ,, : २।३।५४।

७. ,, : २।३।५५।

याम्',[1] 'व्यवहृपणोः समर्थयो'[2] और 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे'[3]—यह अष्टसूत्री बनाने की क्या आवश्यकता थी ? वस्तुत: इस अष्टसूत्री के अन्तर्गत प्राप्त षष्ठी प्रतिपदविधाना षष्ठी कहलाती है और इसका अनिवार्य सम्बन्ध समास-प्रकरण में स्थित वार्त्तिक 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' 'इति वाच्यम्' से है[4]। इस प्रकार शेषत्वविवक्षा में 'मातुः स्मरणम्' में समास नहीं होगा। लेकिन 'यदि हरिस्मरणे सरसं मनः' प्रयोग कैसे सिद्ध होता है ? वस्तुतः 'मातृस्मरणम्', 'हरिस्मरणम्' आदि में कृद्योग षष्ठी समझने में कोई बाधा नहीं होगी। किन्तु 'मातुः स्मृतम्' में 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र से कारक षष्ठी का निषेध होने के कारण सर्वथा शेषषष्ठी का ही आश्रय ले सकते हैं और इस तरह बराबर ऐसी स्थिति में समासाभाव होगा।

अब उपर्युक्त विवेचन के आधार पर शेषषष्ठी और शेषत्वविवक्षा षष्ठी के बीच भ्रम दूर करना आवश्यक है क्योंकि कभी-कभी दोनों में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। वस्तुतः कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध में जो षष्ठी साधारणतया होती है उसे शेष षष्ठी कहेंगे और इसके विपरीत जब कर्मादिकारक की सम्बन्धत्व-विवक्षा करने पर षष्ठी होती है तो उसे शेषत्वविवक्षा से हुई षष्ठी कहेंगे। इस तरह एक षष्ठी सम्बन्ध में होती है और दूसरी तब होती है जब कर्मादि कारक की सम्बन्ध-विवक्षा की जाती है।

षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६। हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

इस सूत्र में 'हेतौ' सूत्र की अनुवृत्ति करने पर अर्थ होता है कि जब 'हेतु' शब्द का प्रयोग हो और 'हेतु' अर्थ भी द्योतित हो तो 'हेतु' शब्द में और हेतु शब्द के योग में आये शब्द में भी षष्ठी होगी। उदाहरणस्वरूप उपर्युक्त

---

१. पाणिनि : २।३।५६।

२. ,, : २।३।५७।

३. ,, : २।३।६४।

४. मिलाइये : हरि:—'प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठी समासस्य निवृत्तये'।

स्थिति में 'अन्न' और 'हेतु' दोनों शब्दों में षष्ठी हुई है। इसके विपरीत केवल 'हेतु' अर्थ द्योतित रहने पर बिना 'हेतु' शब्द के प्रयोग के षष्ठी नहीं होगी—हेतौ तृतीया होगी, जैसे, अन्नेन वसति।

सर्वनाम्नस्तृतीया च ।२।३।२७। सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात्, षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः।

लेकिन उपर्युक्त परिस्थिति में यदि 'हेतु शब्द के साथ किसी सर्वनाम का प्रयोग हो तो 'हेतु' शब्द में तथा उस सर्वनाम शब्द में तृतीया और षष्ठी दोनों होगी। उदाहरणस्वरूप 'केन हेतुना वसति' और 'कस्य हेतोः वसति' दोनों होगा। तृतीया के साथ षष्ठी विभक्ति का समुच्चय 'च'कार से सूत्र में होता है।

निमित्तपर्य्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्। किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन। कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं— किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणाद- सर्वनाम्नः प्रथमा द्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।

इस परिभाषा के अनुसार उपर्युक्त सूत्र का अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction) बहुत व्यापक हो जाता है। अतः 'हेतु' अर्थ द्योतित रहने पर यदि 'हेतु' शब्द ही नहीं, बल्कि किसी भी इसके पर्य्यायवाची शब्द का प्रयोग हो तो हेतु या उसके पर्य्यायवाची शब्द में तथा उसके विशेषणरूप सर्वनाम में प्रायः कोई भी विभक्ति लग सकती है। यह वृत्तिस्थ उदाहरणों से स्पष्ट है। वस्तुतः परिभाषा में 'सर्वासां प्रायदर्शनम्' इसलिये कहा गया जिससे किसी सर्वनाम का प्रयोग न होने पर 'हेतु' या 'निमित्त' के किसी पर्य्यायवाची शब्द का केवल प्रयोग रहने पर प्रथमा और द्वितीया विभक्तियां न हो जायँ। अतएव सर्वनाम का प्रयोग न होने पर 'हेतु' या 'निमित्त' के पर्य्यायवाची शब्द में तथा उसके योग में स्थित शब्द में प्रथमा

और द्वितीया को छोड़ अन्य सभी विभक्तियाँ हो सकती हैं। इस प्रकार जिस तरह 'किं निमित्त वसति' होगा इसी तरह 'ज्ञान निमित्त वसति' नहीं होगा।

पुन 'षष्ठी हेतुप्रयोगे', 'सर्वनामस्तृतीया च' तथा यह परिभाषा—सभी उत्तरोत्तर नियम के अधिकार क्षेत्र में वृद्धि करते हैं। या, यों कहें कि ये सभी पूरक नियम हैं। तदनुसार 'हेतु' शब्द का प्रयोग होने पर उसमें और उसके योग में षष्ठी, फिर यदि उसके योग में कोई सर्वनाम हो तो तृतीया भी और यदि, हेतु ही क्या—उसके पर्य्यायवाची अन्य भी किसी शब्द का प्रयोग हो तो उसके योग में सर्वनाम रहने पर सभी विभक्तियाँ, तथा सर्वनाम नहीं रहने पर प्रथमा और द्वितीया को छोड़ अन्य सभी विभक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार यह परिभाषा पूर्वोक्त सूत्रों का न केवल पूरक है, प्रत्युत अपवाद भी है। यथा 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' सूत्र में बतलाया गया कि 'हेतु' शब्द का प्रयोग होने पर उसमें और उसके योग में षष्ठी होती है, पर इस परिभाषा के अनुसार यदि योग में सर्वनाम का प्रयोग नहीं हो तो सभी विभक्तियाँ होंगी। फिर, यह न केवल 'हेतु' शब्द के प्रयोग में होगा अपितु किसी भी इसके पर्य्यायवाची के प्रयोग में भी होगा। इस प्रकार 'अन्नेन हेतुना वसति' तथा 'अन्नस्य हेतो- र्वसति' की तरह 'अन्नाय निमित्ताय वसति' प्रयोग भी ऐसे अन्य प्रयोगों की तरह युक्तियुक्त होगा। पुन 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' सूत्र में सर्वनाम बतलाया गया कि हेतु शब्द के योग में सर्वनाम रहने पर 'हेतु' शब्द में तथा उस सर्वनाम में षष्ठी और तृतीया दोनों होंगी। लेकिन इस परिभाषा के अनुसार एक तो 'हेतु' शब्द के किसी भी पर्य्यायवाची का प्रयोग हो सकता है, फि उसमें और उसके योग में स्थित सर्वनाम में प्रथमा और द्वितीया को छो कोई भी विभक्ति हो सकती है।

एक बात इस नियम के सम्बन्ध में और कथ्य है और वह यह कि जब मूल सूत्र 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' में 'हेतु' शब्द का निर्देश था ही तो यहाँ अल करके 'हेतु' को छोड़कर 'निमित्त' शब्द के ग्रहण का क्या अभिप्राय था 'हेतुप्रयोगे' के अपवाद में 'हेतुपर्य्यायप्रयोगे' कहना अधिक सटीक होता। वस्तुत कोई विशेष अभीष्ट दीखता नहीं, स्पष्टीकरणार्थ ही ऐसा हुआ कहा जा सकता है।

पष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।२।३।३०। एतद्योगे षष्ठी स्यात्। 'दिक्शब्दे'ति पञ्चम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः। पुरः, पुरस्तात्। उपरि, उपरिष्टात्।

अष्टाध्यायी के क्रम में 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्तातिः[1] सूत्र से लेकर 'आहि च दूरे[2] और 'उत्तराच्च'[3] तक के सूत्रों में दिशावाची शब्द से दिशा, काल तथा देश (अर्थात् स्थान) के अर्थ में स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान किया गया है। वहीं 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्'[4] से अतसुच् (अतस्) प्रत्यय का भी विधान है। पुनः यद्यपि अतसर्थ प्रत्ययों में 'अस्तातिः' ही प्रथम है तथापि केवल उच्चारण के सौविध्यार्थ सूत्र में 'अतस्' का ही समावेश किया गया है। अब सूत्र का अर्थ है कि जिस अर्थ में 'अतस्' प्रत्यय होता है उस अर्थ में होनेवाले प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी होगी, ये प्रत्यय उपर्युक्त अतसुच् (अतस्), अस्तातिः (अस्तात्), असिः (अस्), रिष्टातिल् (रिष्टात्) और, रिल् (रि) हैं। उदाहरणस्वरूप दिशावाची 'दक्षिण' शब्द से अतसुच् (अतस्) लगने पर (तथा नियमानुकूल प्रत्यय लगने के पूर्व अन्त्य स्वर का लोप करने पर) दक्षिण + अतस् = दक्षिणतः हुआ। चूँकि ये प्रत्यय सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त या प्रथमान्त दिशा-वाची शब्द से देश (स्थान), काल या दिशा के अर्थ में लगते हैं इसलिये इसका अर्थ 'दिशा के अर्थ' में हुआ—दक्षिणस्यां दिशि, दक्षिणस्याः दिशः वा दक्षिणा दिक्।

फिर, पुरः और पुरस्तात् शब्द 'पूर्व' शब्द से क्रमशः असिः (अस्) और अस्तातिः (अस्तात्) प्रत्ययों से निष्पन्न हैं—पुर + अस् = पुरः (स्) और पुर् + अस्तात् = पुरस्तात्। अतः 'दिशा' अर्थ रहने पर इनका भी अर्थ

---

१. पाणिनि : ५।३।२७।
२. ,, : ५।३।३७।
३. ,, : ५।३।३८।
४. ,, : ५।३।२८।

होगा—पूर्वस्यां दिशि, पूर्वस्या दिश या पूर्वा दिक्। इसी प्रकार उपरि और उपरिष्टात् क्रमश उप + रिल् (रि) और उप+रिष्टातिल् (रिष्टात्) से व्युत्पन्न होते हैं और इनके योग में भी पूर्ववत् षष्ठी होती है। यहाँ 'उप' अव्यय ऊर्ध्वार्थक समझा जायगा। इसलिये वस्तुत 'दिशा' अर्थ में इनका अर्थ होगा—ऊर्ध्वायां दिशि, ऊर्ध्वाया दिश या ऊर्ध्वा दिक्। इसी तरह 'देश' तथा 'काल' अर्थ में भी दक्षिणत, पुर (पुरस्तात्), उपरि (उपरिष्टात्) आदि के क्रमश अर्थ होंगे—दक्षिणे देश दक्षिणस्य देशस्य या दक्षिण देश और दक्षिणे काले दक्षिणस्य कालस्य या दक्षिण काल, पूर्वस्मिन् देशे पूर्वस्य देशस्य या पूर्वो देश और पूर्वस्मिन् काले पूर्वस्य कालस्य या पूर्व काल, तथा ऊर्ध्वे देशे ऊर्ध्वस्य देशस्य या ऊर्ध्वो देश और ऊर्ध्वे काले ऊर्ध्वस्य कालस्य या ऊर्ध्व काल।

अब इन परिगणित प्रत्ययों में वस्तुत भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से (From philological point of view) 'अस्ताति' के बदले केवल 'तात्' प्रत्यय मानना आसान होगा जो 'पुरस्तात्' और 'अधस्तात्' में दीखता है। इन्हीं के समानानुमान (Analogy) पर 'उपरिष्टात्' सिद्ध माना जा सकता है। फिर, 'दक्षिणत' को अतसुच् प्रत्यय से निष्पन्न मानने के बदले पञ्चमी के अर्थ में तसिल् (तस्) प्रत्यय से व्युत्पन्न मानना अच्छा होगा। ऐसी स्थिति में दक्षिणत का अर्थ होगा—दक्षिणात्, या दक्षिणायां दिशाया (दक्षिण से)।

इस सूत्र में, षष्ठी का विधान वस्तुत 'अन्यारादितरर्ते—' सूत्रस्थ 'दिक् शब्द' के योग में विहित पञ्चमी के अपवादस्वरूप है। अत यदि अलग करके यह सूत्र नहीं बनाया जाता तो 'अतस्' आदि प्रत्ययों से निष्पन्न 'दक्षिणत' आदि शब्दों के योग में भी पञ्चमी ही होती। इस तरह अतसर्थ प्रत्यय से निष्पन्न 'पश्चात्' शब्द के योग में स्वाभाविक षष्ठी होनी चाहिये, लेकिन वस्तुत भाष्यकार[१] के 'तत पश्चात् स्रस्यते ध्वस्यते च' प्रयोग के आधार पर पञ्चमी भी होती है।

---

१. महाभाष्यम्।

एनपा द्वितीया ।२।३।३१। एनवन्तेन योगे द्वितीया स्यात्, एनपेतियोगविभागात् षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं, ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

एनप् प्रत्यय 'एनवन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः'[1] सूत्र से 'अदूर' अर्थ में दिशावाची शब्द से लगता है और इस प्रकार निष्पन्न शब्द तृतीयाप्रतिरूपक अव्यय होता है। सूत्र में एनप्प्रत्ययान्त शब्द के योग में केवल द्वितीया विभक्ति कही गई है किन्तु व्यवहार में षष्ठी भी होने के कारण योगविभाग का आश्रय लेकर इष्ट अर्थ किया जाता है। एतदनुसार सूत्र में 'एनपा' का 'द्वितीया' से योगविभाग कर लिया जाता है। उदाहरण में प्रसंगानुसार एनवन्त 'दक्षिणेन' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द में द्वितीया और षष्ठी दोनों विभक्तियाँ दिखलाई गई हैं। इसी प्रकार 'ग्राममुत्तरेण' या 'ग्रामस्योत्तरेण' भी होगा। लेकिन, तब 'तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयम्'[2] प्रयोग कैसे हुआ? वस्तुतः इस चरण का आवश्यक योग 'दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन' से है। अतः पूर्व चरणका 'उत्तरेण' उत्तर चरण के 'तोरणेन' को विशेषित करता है। इस प्रकार इसके योग में 'गृह' शब्द में पंचमी युक्ति-युक्त हो जाती है। इसके विपरीत कुछ टीकाकार 'धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयम्' पाठ मानते हैं। ऐसी स्थिति में एनवन्त 'उत्तरेण' शब्द के योग में 'गृह' शब्द में द्वितीया ठीक ही है। वस्तुतः 'दूरेण' 'अन्तिकेन' की तरह तृतीयान्त 'उत्तरेण' प्रयोग भी संगत प्रतीत होता है और इस दृष्टि से भी इसके योग में पंचमी उपयुक्त होगी। पुनः इस व्याख्या के अनुसार 'उत्तरेण' आदि के योग में षष्ठी की भी युक्ति मिल जाती है। किन्तु रह जाती है इनके योग में केवल द्वितीया की बात जिसका समाधान 'एनप्' का सहारा लिये बिना नहीं हो सकता। फिर जैसा भाष्यकार ने 'पृथग् विना—' सूत्र के व्याख्याक्रम में कहा है 'एनपा द्वितीया' का पाठ 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' के पहले ही होना

---

१. पाणिनि : ५।३।३५।

२. मेघदूतम् : उत्तर मेघ-१२

चाहिये।[1] ऐसी अवस्था में योगविभाग के आधार पर अनुवृत्ति करके षष्ठी का विधान भी गलत होगा।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।२।३।३४। एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पंचमी च। दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा।

'दूर' और 'अन्तिक' (समीप) तथा इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में विकल्प से षष्ठी और पंचमी दोनों होती हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि अष्टाध्यायी के क्रम में 'एनपा द्वितीया' तथा 'पृथग् विना—' सूत्रों के अपेक्षया (Relatively) निकट रहने पर भी सूत्र में व्यवहार-रक्षार्थ द्वितीया या तृतीया की अनुवृत्ति नहीं की जाती। इसके विपरीत, 'अपादाने पंचमी' सूत्र से मण्डूकप्लुति से पंचमी की अनुवृत्ति होती है। फिर, 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च'[2] और इस सूत्र के बीच मुख्य अन्तर यह है कि पूर्वसूत्र में जहाँ 'दूर' और 'अन्तिक' तथा इनके पर्यायवाची शब्दों में ही द्वितीयादि विभक्तियों का विधान हुआ है वहाँ इस सूत्र में इनके योग में पंचमी और षष्ठी का विधान किया गया है।

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।२।३।५१। जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्।

'जानना' से भिन्न अर्थ वाले √ज्ञा के करण में शेषत्व-विवक्षा में षष्ठी होगी। उदाहरण-स्वरूप ऐसे √ज्ञा से निष्पन्न 'ज्ञान' शब्द के योग में 'सर्पिषो ज्ञानम्' में षष्ठी हुई है। वस्तुतः यहाँ √ज्ञा अवबोधने का अर्थ 'प्रवर्तन' या 'ज्ञानपूर्वक प्रवर्तन' समझना चाहिये। अतः 'सर्पिषो ज्ञानम्' का अर्थ है—करणीभूत जो सर्पिस्, तत्सम्बन्धी प्रवृत्ति। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि सूत्र में 'अविदर्थस्य' कहना ठीक नहीं है क्योंकि √विद् का अर्थ केवल जानना नहीं है और यदि यही अर्थ समझना था तो 'ज्ञोऽविदर्थस्य' कहने की आवश्यकता नहीं थी! वस्तुतः ऐसी बात नहीं! यद्यपि √विद् के

---

१. महाभाष्यम् : २।३।२५।
२. पाणिनि : २।३।३५।

बहुत-से अर्थ हैं, फिर भी √ज्ञा के साथ आने पर उसका इस प्रसंग में 'ज्ञान' अर्थ सीमित हो जाता है। पुनः यदि 'अविदर्थ' के साथ √ज्ञा का प्रयोग नहीं रहता तो कैसे पता चलता कि अविदर्थक √ज्ञा के ही करण में षष्ठी होगी। अब यहीं पर यह बतला देना आवश्यक है कि इस सूत्र से लेकर 'व्यवहृपणोः समर्थयोः'[1] सूत्र तक सात सूत्र तथा 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे'[2] सूत्र को मिलाकर जो अष्टसूत्री बनती है उसमें सर्वत्र शेषत्व-विवक्षा से षष्ठी होती है और इसे 'प्रतिपदविधाना' षष्ठी कहते हैं जिसका समास नहीं होता। लेकिन 'सर्पिषो ज्ञानम्', 'शतस्य व्यवहरणम्' आदि स्थलों में हम 'षष्ठी शेषे' सूत्र से साधारण शेष षष्ठी या 'कर्तृकर्मणोः कृति'[3] से कृद्योग षष्ठी समझ कर समास कर सकते हैं। वस्तुतः इन स्थलों में विभिन्न कृत्रिम अर्थों में शेषत्वविवक्षा करना और फिर इन अर्थों में विहित षष्ठी का समास-प्रतिषेध करना व्यावहारिक दृष्टि से अच्छा नहीं लगता है। केवल 'मातुः स्मरति', 'भजे शम्भोश्चरणयोः' आदि उदाहरणों में यह शेषत्वविवक्षा षष्ठी तथा समासाभाव उपयुक्त प्रतीत होता है। पुनः 'दिवस्तदर्थस्य[4]' सूत्र के अन्तर्गत 'शतस्य दीव्यति' उदाहरण भी इसी श्रेणी का है लेकिन आश्चर्य है कि वहाँ न तो शेषत्वविवक्षा की जाती है और न इस तरह समास-निषेध ही होता है। मेरी समझ में इन सूत्रों के अन्तर्गत साक्षात् क्रिया पद के योग में समासाभाव के लिये शेषत्व-विवक्षा करनी चाहिये अन्यथा ये सूत्र ही निष्प्रोजन एवं भारभूत हैं।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।२।३।५२। एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् , मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् , ईशनं वा ।

अधिपूर्वक √इक् तथा इसके पर्य्यायवाची और √दय् तथा √ईश् के कर्म में शेषत्वविवक्षा में षष्ठी होती है। अधिपूर्वक √इक् का अर्थ होता है 'स्मरण करना'। अतः सूत्र में 'अधीगर्थ' के बदले 'स्मरणार्थ' ही क्यों न कहा

---

१. पाणिनि : ।२।३।५७।
२. „ : २।३।६४।
३. „ : २।३।६५।
४. „ : २।३।५८।

जो अधिक सुगम और सरल होता ? वस्तुतः यह बात भी ज्ञापक है कि √इङ् और इक् सतत 'अधि' उपसर्ग के साथ ही प्रयुक्त होंगे[1] पुन. शेषत्वविवक्षा करने पर कर्म में षष्ठी होगी 'एमा क्यों' कहा ? इस लिये जिससे करण में शेषत्वविवक्षा होने से भी षष्ठी न हो जाय। उदाहरणस्वरूप 'मातुर्गुणस्मरणम्' में 'माता' शब्द में कर्म की शेषत्वविवक्षा में षष्ठी हुई। इसके विपरीत यदि 'गुण' शब्द में करण की शेषत्वविवक्षा करने पर इस सूत्र से षष्ठी होगी तो 'गुणस्मरणम्' में समास गलत होता। वस्तुत ऐसे स्थल में 'षष्ठी शेषे' सूत्र से ही षष्ठी माननी होगी जिससे समास में कोई बाधा न हो। इसी के अनुरूप सूत्र में 'मातु. स्मरणम्' आदि में समासाभाव दिखलाया गया है। यहाँ √दय् का अर्थ 'दान' और √ईश् का अर्थ 'यथेष्ट विनियोग करना' है। वस्तुतः √दय् के अन्य भी 'गति', 'रक्षण', 'हिंसा', 'आदान' बहुत से अर्थ हैं।

कृञः प्रतियत्ने ।२।३।५३। कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधो दकस्योपस्करणम्।

√कृ के कर्म में 'शेष' में षष्ठी होती है जब 'गुणाधान' अर्थ हो। वस्तुत· गुणाधान का अर्थ 'गुणादान' या 'परिष्करण' है। मतलब यह कि √कृ का अर्थ जब 'परिष्कृत करना' होगा तब उसके कर्म में शेष में द्वितीया के स्थान में षष्ठी होगी। √कृ का यह अर्थ 'परि', उप' तथा 'सम्' उपसर्ग से युक्त होने पर होता है। अत कहा जा सकता है कि 'परि', 'उप' तथा 'सम्' पूर्वक √कृ के कर्म में शेषत्वविवक्षा में षष्ठी होती है। उदाहरण में 'एधोदक' में या तो नपुंसक 'एधस्' शब्द से प्रथमैकवचन 'एधो' और उदकवाची 'दक' शब्द से या समासावस्था में नपुंसक 'एधस्' तथा 'दक' के समाहार में या पुल्लिंग 'एध' शब्द और 'उदक' से समास में सन्धि के पश्चात् शेषत्वविवक्षा में षष्ठी कही जा सकती है। प्रतियत्न का प्रसिद्ध अर्थ यहाँ वैद्यक शास्त्र के अनुसार निम्बकदम्बादिकाष्ठविशेष को प्रज्वलित करके अग्नि पर किसी बर्तन में जल गर्म करने पर उस जल का विशेष गुण युक्त होना है।

---

1. मिलाइये : इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः।

यह वस्तुगत परिष्करण कहा जा सकता है। इसके विपरीत 'भावगत परिष्करण के समावेश का अभिप्राय सूत्र में कहाँ तक है' यह उदाहरण से लक्षित नहीं होता।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ।२।३।५४। भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा।

√ज्वर् को छोड़ 'भाववचन' अन्य रुजार्थकधातुओं के कर्म में शेष में षष्ठी होगी। सूत्र में 'रुजा' शब्द √रुजो भङ्गे से निष्पन्न है। फिर, 'भाववचन' पद में 'भाव' शब्द का अर्थ यहाँ घञ् आदि भाववाची प्रत्यय से निष्पन्न शब्द लिया जायगा। वक्तीति वचनः। किन्तु चूँकि 'भाव' का 'वक्ता' होना संभव नहीं है, इसलिये 'वचन' का अभीष्ट अर्थ 'कर्त्ता' लिया जायगा। अतः सूत्र का अर्थ हुआ कि यदि ज्वरवर्जित √रुज् या इसके पर्य्यायवाची किसी धातु का कर्त्ता किसी भाववाची प्रत्यय से व्युत्पन्न हो तो उस धातु के कर्म में शेष-त्वविवक्षा में षष्ठी होती है। उदाहरण-स्वरूप यहाँ 'रुजा' के अन्तर्गत √रुज है। जिसका कर्त्ता (करनेवाला) भाववाची घञ् प्रत्यय से निष्पन्न 'रोग' है। अतः उसके कर्मभूत 'चोर' शब्द में शेष में षष्ठी हुई है। इस प्रकार उदाहरण में यद्यपि 'रोग' और 'रुजा' दोनों ही शब्द √रुज् से निष्पन्न हैं तथापि दोनों के अर्थ में अन्तर है। वस्तुतः 'रोग' से बीमारी के कारण शरीर का क्षयादिविकार विशेष विवक्षित होता है, किन्तु 'रुजा' से व्याधिजन्य सन्ता-पादिपीड़ा व्यक्त होती है। अब उदाहरणस्थ 'चौरस्य रोगस्य रुजा' के पूर्ववाक्य 'चौरं रोगः रुजति' से सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है। पर हम यहाँ एक व्यतिक्रम पाते हैं। वह यह कि सूत्र में कहा गया है कि ज्वरवर्जित रुजार्थक धातु के कर्म में शेष में षष्ठी होती है किन्तु उदाहरण में हम √रुज् से निष्पन्न 'रुजा' शब्द के योग में 'चौर' शब्द में षष्ठी पाते हैं। फिर, सूत्रस्थ 'रुजार्थानाम्' से पता लगता है कि शायद 'रुजा' और इसके पर्य्यायवाची संज्ञा (Noun) शब्द ही अभीष्ट हैं। किन्तु, कर्म में ही षष्ठी होने की बात उसके योग में क्रिया को ला देती है। वस्तुतः यहाँ भी क्रिया रूप में ही धातु के योग में

यदि षष्ठी दिखलाई जाती तो कुछ विशेषता होती, अन्यथा 'रुजा' शब्द के योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से भी तो षष्ठी हो ही सकती है। निश्चय ही अन्तर यह होगा कि उदाहरणस्थ 'चौरस्य रुजा' में समास नहीं होगा यद्यपि 'रोगस्य रुजा' में ऐसी बात नहीं हो सकती। केवल 'चौरस्य रोगस्य' में हम 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन'[1] सूत्र के अनुसार समानाधिकरणषष्ठी का समास निषेध कर सकते हैं।

अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम्। रोगस्य चौरज्वरः, चौरसंतापो वा। रोगकर्तृक-चौरसम्बन्धिज्वरादिकमित्यर्थः।

इस वार्त्तिक के अनुसार उपर्युक्त सूत्र के अधिकार-क्षेत्र को सीमित कर दिया गया है। इसके अनुसार रुजार्थक धातुओं में √ज्वर् और √संताप् को छोड़कर अन्य किसी भी धातु के कर्म में शेष में षष्ठी होती है। वस्तुतः मूल सूत्र में 'अज्वरे:' के द्वारा √ज्वर् का बहिष्करण (Elimination) पहले ही हो चुका था। इस दृष्टि से वार्त्तिक में पुनः उसका समावेश निष्प्रयोजन है। चूँकि √ज्वर् और सम् पूर्वक √ताप् (—√तप् + णिच्) के कर्म में उपर्युक्त सूत्र से षष्ठी नहीं होगी इसलिये साधारण शेषषष्ठी या कृद्योग षष्ठी होने से उदाहरण में 'चौरज्वरः' तथा 'चौरसन्तापः' में समास दिखलाया गया है।

आशिषि नाथः।२।३।५५। आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषीति किम्? माणवकनाथनम्। तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः।

'आशिस्' अर्थ बोध होने पर यदि यह अर्थ √नाथ् दे तो उसके कर्म में शेष में षष्ठी होती है। यहाँ 'आशिस्' का अर्थ 'आशासन' या 'आशंसा' है, न कि 'आशीर्वाद'। वस्तुतः √नाथ् के दो अर्थ होते हैं—आशा करना और याचना करना अतः जब 'आशा करना' अर्थ होगा तभी उसके कर्म में विहित अवस्था में षष्ठी होगी अन्यथा प्रत्युदाहरण में 'याचना' अर्थ में 'माणवकनाथनम्'

---

1. पाणिनिः २।२।११। : द्रष्टव्य विवेचन।

में साधारण शेष-षष्ठी या कृद्योग-षष्ठी होने पर समास दिखलाया गया है। पुनः [1]शब्दकौस्तुभ में कर्मत्वविवक्षा में कृद्योग-षष्ठी होने पर 'आशिस्' अर्थ में भी √नाथ् से निष्पन्न शब्द का समास बतलाया गया है, लेकिन ऐसी दशा में 'गतिकारकोपपदात् कृत्—' सूत्र से कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर होगा। अतः अन्ततः अन्तर यह हुआ कि समास के कारण अन्तोदात्तत्व 'याच्ञा' अर्थ में ही होगा, 'आशिस्' अर्थ में नहीं।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ।२।३।५६। हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । प्रणिहननम् । निहननम् प्रहणनं वा । 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम् ? धानापेषणम् ।

हिंसार्थक √जास्, निप्रपूर्वक √हन्, √नाट् √क्राथ् तथा √पिष् के कर्म में शेषत्वविवक्षा में षष्ठी होगी। इन धातुओं में √जस् तीन हैं—'जसु ताडने' 'जसु 'हिंसायाम्' और 'जसु मोक्षणे'। इनमें केवल प्रथम दो का ग्रहण यहाँ होगा। ये चुरादिगणीय होने के कारण सूत्र में दीर्घान्त √जासि पठित हैं। इनके विपरीत, तीसरा दिवादिगणीय है और हिंसार्थक भी नहीं है। इसी प्रकार √नट् भी दो हैं—√नट् नृत्तौ और √नट् अवस्कन्दने इनमें केवल अवस्कन्दनार्थक √नट् का ग्रहण होगा। यह भी चुरादिगणीय है। पुनः √क्रथ् हिंसायाम् 'घटादि' में पठित होने के कारण 'घटादयो मितः' और 'मितां ह्रस्वः'[2] से ह्रस्व होता, किन्तु तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार निपातन से यह सूत्र में दीर्घान्त पठित है। पुनः निप्रपूर्वक √हन् के विषय में प्रायः

---

१. यद्यपि कर्मत्वविवक्षायां कर्तृकर्मणोरिति यदा षष्ठी तदा समासो भवत्येव तथापि तत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः।

२. पाणिनि : ६।४।९२।

पाणिनि का अभिप्राय था कि यह महत्, व्यस्त तथा विपर्यस्त—सभी क्रमों में इष्ट हैं अतएव निप्रहणनम्, प्रणिहननम्, निहननम् और प्रहणनम्—सभी के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिखलाये गये हैं। फिर, √पिष् का अर्थ साधारण भाषा में 'पासना' या 'चूरना' है। लेकिन हर जगह 'हिंसा' अर्थ रहना चाहिये वस्तुत 'हिंसा' किसी भी प्रकार का 'शारीरिक क्लेश' या 'क्षति' है। इस लिये 'झाड़-फूकर' धान से चावल निकालना जहाँ अर्थ रहे वहाँ अन्य कथित अन्य सूत्र से षष्ठी होगी और इसतरह समास में भी कोई निषेध नह होगा। यह प्रत्युदाहरण 'धानापेषणम्' से स्पष्ट है।

वृत्तिस्थ उदाहरणों में 'उज्जासनम्' और 'उच्चाटनम्' में उत् उपसर्ग ह नश् धातु के अर्थ को पुष्ट करता है। इस सम्बन्ध में शेपत्व विवक्षा षष्ठी। कुछ शास्त्रीय उदाहरण भी दिये जा सकते हैं—'निजौजसोज्जासयितुं जग दुहाम्,'[1] प्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामपि'[2] आदि। इनमें 'उज्जासयितुम्' औ 'पेष्टुम्' के योग में 'जगद्द्रुहाम्' तथा 'भुवनद्विषाम्' में क्रमश इसी सूत्र षष्ठी है।

व्यवहृपणोः समर्थयोः ।२।३।५७। शेषे कर्मणि षष्ठं स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा। समर्थयोः किम्? शलाकाव्यवहारः गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनम्। स्तुतिरित्यर्थः।

समानार्थक 'वि', 'अव' पूर्वक √हृ तथा √पण के कर्म में शेष में षष्ठ होगी ये दोनों धातु समानार्थक होते हैं 'द्यूत' तथा 'क्रयविक्रय-व्यवहार' अर्थ में। अत. इन्हीं अर्थों में इनके कर्म में शेपत्वविवक्षा में षष्ठी होती है। उदाहरणस्वरूप 'शतस्य व्यवहरणम्' या 'शतस्य पणनम्' का अर्थ है—दाव (मुद्रादि) द्यूत या क्रयविक्रय में लगाना'। क्रयविक्रयव्यवहार का अर्थ मुझे 'खरीद-बिक्री' की अपेक्षा 'सट्टाबाजी' अच्छा लगता है। यह द्यूत से करीब करीब तुल्यार्थक भी है। लेकिन तुल्यार्थक होने से यदि यह पुनरुक्तिवत् मालूम पड़ता

---

१. शिशुपालवधम् : १।२७।

२ „ : १।४०।

हो तो कम से कम वृत्त्यर्थ की रक्षा के लिये 'खरीदबिक्री' अर्थ लेना ही अच्छा होगा। प्रत्युदाहरण में दिखलाया गया है कि जब √व्यवहृ का अर्थ 'गणना करना' और √पण् का अर्थ 'प्रशंसा करना' होगा तो अन्य सूत्र से षष्ठी की प्राप्ति होने से समास हो जायगा।

दिवस्तदर्थस्य ।२।३।५८। द्यूतार्थस्य क्रय-विक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।

√दिव् तीन अर्थ रखता है—'द्यूत', 'क्रय विक्रय रूप व्यवहार' तथा 'स्तुति'। इनमें सूत्रानुसार 'द्यूत' और 'क्रय विक्रय रूप व्यवहार' अर्थ वाले √दिव् के कर्म में षष्ठी होगी। उदाहरणस्वरूप 'शतस्य दीव्यति' का अर्थ है—'शत (मुद्रादि) द्यूत में देता है' या 'शत (मुद्रादि) का क्रयविक्रय व्यवहार करता है।' इसके विपरीत, प्रत्युदाहरण में स्तुत्यर्थक √दिव् के कर्मभूत 'ब्राह्मण' शब्द में द्वितीया हुई है। इस सूत्र में अष्टसूत्री के बाद के अन्यान्य सूत्रों की तरह 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि'[1] से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति हुई। लेकिन उनके विपरीत, यहाँ कर्म की शेषत्वविवक्षा नहीं होने के कारण 'शेषे' की निवृत्ति हो जाती है। फिर 'कर्तृकर्मणोः कृति'[2] सूत्र के सामीप्य के हेतु कृद्योग षष्ठी की संभावना तथा वैसी स्थिति में समास की शंका होने पर उसके निवृत्त्यर्थ यहाँ तिङन्त का ही योग समझा जायगा। इसके विपरीत, चूँकि तिङन्त के साथ समास की प्रसक्ति नहीं होती और अष्टसूत्री समास के निषेधार्थ ही सिद्ध होती है, इसलिये अष्टसूत्री के अन्तर्गत तत् तत् स्थान में धातु निर्देश होने पर भी तिङन्त का योग नहीं समझा जाकर धातु निष्पन्न प्रातिपदिक का योग समझा जायगा। इसलिये 'व्यवहृपणोः समर्थयोः'[3] सूत्र में जहाँ 'शतस्य व्यवहरणम्' उदाहरण दिया गया है वहाँ इस सूत्र में 'शतस्य दीव्यति'।

---

१. पाणिनि : २।३।५२।

२. ,, : २।३।६५।

३. ,, : २।३।५७।

पुनः इस सूत्र में जो 'तदर्थे' कहा गया है उसका अर्थ वस्तुतः 'व्यवहृपणोः समर्थयोः' सूत्र का 'समर्थ' ही है। अतः 'तदर्थे' का मतलब भी 'द्यूतार्थ एवं क्रयविक्रय व्यवहारार्थ' है। अब विस्तृत दृष्टि से गौर करने पर हम देखेंगे कि अष्टसूत्री से इस सूत्र की समानता समासाभाव में है। साथ ही अन्तर यह है कि जहाँ अष्टसूत्री में समास निषिद्ध है वहाँ इस सूत्र में समास संभव तो नहीं है, अतः शब्दशक्ति के प्रतिकूल है। फिर, यहाँ 'शेष' की अनुवृत्ति नहीं होने के कारण कर्मत्व प्रकार ही समझना चाहिये। अतएव 'द्वितीया ब्राह्मणे'[1] इस उत्तर सूत्र में[2] भाष्यकार तथा कैयट के अनुसार 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' में नित्य षष्ठी की प्राप्ति होने पर द्वितीया ही होती है। इन्हीं आधारों पर वस्तुतः अपनी विशिष्टता तथा वैयक्तिकता के कारण ही मात्रा-लाघव करके भी उपर्युक्त 'व्यवहृपणोः समर्थयोः' सूत्र में इसका समावेश नहीं किया जा सका। कारणों में सबसे मुख्य है इस सूत्र में पूर्वसूत्र के विपरीत कर्म के साथ तिङन्त का समन्वय।

विभाषोपसर्गे ।२।३।५९। पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्र (ति) दीव्यति।

लेकिन उपर्युक्त स्थिति में यदि √दिव् 'द्यूत' या 'क्रय-विक्रय-व्यवहार' के अर्थ में होने के साथ-साथ उपसर्गयुक्त रहे तो उसके कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है। अतः षष्ठी के अभाव पक्ष में निश्चय ही द्वितीया होगी। उदाहरण-स्वरूप 'शतस्य प्रतिदीव्यति' और 'शतं प्रतिदीव्यति' दोनों होंगे। वृत्ति में 'प्रदीव्यति' या 'प्रतिदीव्यति' में संशय दीख पड़ता है। वस्तुतः दोनों संभव हो सकते हैं, किन्तु 'प्रतिदीव्यति' स्पष्टतः अधिक संगत जँचता है।

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने ।२।३।६१। देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्त्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोर्हविर्विशेषस्य वाचका-

---

१. पाणिनि : २।३।६०।

२. महाभाष्यम् : २।३।२६।

च्छन्दात् षष्ठी स्यात् । अग्नये छागस्य हविषो वपाया: मेदसः प्रेष्य, अनुब्रूहि वा ।

पूर्ववत् यहाँ भी समासाभाव में कर्म के साथ तिङन्त का योग तथा 'शेषे' की निवृत्ति समझनी होगी । सूत्र में 'प्रेष्य' प्रपूर्वक दिवादिगणीय √इष् के लोट् लकार मध्यम-पुरुष एकवचन का रूप है । पुनः यद्यपि √ब्रू का ऐसा रूप सूत्र में निर्दिष्ट नहीं है, तथापि 'प्रेष्य' के साहचर्य्य (Co-existence) से लोट् मध्यम पुरुष एकवचन रूप ही सूत्र के इष्टसिद्धयर्थ वाञ्छित है । फिर, 'हविष्' शब्द यहाँ हविर्वाचक नहीं, अपितु 'हविर्विशेषवाचक' है । अतः सूत्रानुसार जहाँ किसी देवता को 'हविष्' देने का अर्थ हो वहाँ 'प्रेष्य' या 'ब्रूहि' (या उपसर्गयुक्त 'अनुब्रूहि' आदि) के कर्म भूत 'हविर्विशेषवाचक' शब्द में षष्ठी होगी । उदाहरणस्वरूप वृत्ति में 'अग्निदेवता' को छाग के 'मेदस्' और 'वपा' रूप 'हविष्' देने का अर्थ रहने के कारण ही 'प्रेष्य' या 'अनुब्रूहि' के कर्मभूत 'मेदस्' तथा 'वपा' शब्दों में षष्ठी हुई है । इस प्रकार उदाहरण में 'अग्नि' शब्द में सम्प्रदाने चतुर्थी और 'छाग' शब्द में सम्बन्धे षष्ठी है । फिर, 'मेदस्' तथा 'वपा' शब्द 'देवता-सम्प्रदान' होने के कारण षष्ठी विभक्ति में 'हविष्' के समानाधिकरण हैं । देवतायै सम्प्रदीयते यत् तत् देवतासम्प्रदानम् ।

इसके विपरीत, 'अग्नये छागस्य हविर्वपां मेदो जुहुधि' में हविर्विशेषवाचक 'वपा' और 'मेदस्' तथा 'हविष्' शब्द में कर्मत्व रहने पर भी षष्ठी नहीं होगी—द्वितीया ही होगी क्योंकि वे 'प्रेष्य' या 'ब्रूहि' (या 'अनुब्रूहि' आदि) के कर्म नहीं हैं । पुनः 'अग्नये गोमयानि प्रेष्य' में सूत्रस्थ 'प्रेष्य' शब्द रहने पर भी कर्मभूत 'गोमय' शब्द में षष्ठी नहीं है क्योंकि 'गोमय' वस्तुतः 'हविष्' नहीं है । पुनः इन सभी शर्त्तों के पूरा रहने पर भी कर्म में षष्ठी नहीं होगी' यदि 'हविष्' देवतासम्प्रदान नहीं हो । उदाहरणस्वरूप माणवकाय पुरोडाशान् प्रेष्य' में 'पुरोडाश' हविष् तो है लेकिन उसका सम्प्रदान' कोई देवता नहीं 'माणवक' है । इसी तरह नियम है—'हविषः प्रस्थितत्वेन विशेषणे प्रतिषेधो वक्तव्यः' । अर्थतः 'प्रस्थित' शब्द यदि उक्त

स्थिति में 'हविष्' या हविर्विशेषवाची शब्द का विशेषण होकर आवे तो का में षष्ठी का प्रतिषेध होता है। उदाहरणस्वरूप 'इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य' में कर्मभूत 'हविष्' तथा हविर्विशेषवाचक 'वपा' और 'मेदस्' शब्दों में षष्ठी के प्रतिषेधस्वरूप द्वितीया हुई है।

वस्तुतः कल्पसूत्रों में 'अग्नये छागस्य वपायाः मेदस. प्रेष्य'—इतना ही पाया जाता है। किन्तु चूँकि उदाहरणगत वाक्य भाष्य में मिलता है इसलिये अनुमान है कि कुछ शाखाओं में अवश्य ही वैसा पाठ रहा होगा। यहाँ बालमनोरमाकार के अनुसार 'मेदस्' शब्द का अर्थ 'वसासदृश मांसविशेष' है।

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ।२।३।६४। कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ।

जिस अर्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय लगता है उस अर्थ में जो प्रत्यय लगते हैं उन्हें 'कृत्वोऽर्थ' प्रत्यय कहेंगे। वस्तुतः कृत्वसुच् को छोड़ अन्य एक ही ऐसा प्रत्यय है और वह है सुच्। इनमें 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' सूत्र के अनुसार सुच् प्रत्यय द्वि, त्रि, और चतुर् शब्दों से लगता है तथा इनसे आगे के सभी संख्यावाची शब्दों से कृत्वसुच् होता है। यह प्रत्यय 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' सूत्र के अनुसार संख्या के द्वारा क्रिया की आवृत्ति की गणना होने में संख्यावाची शब्द से लगता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि यदि किसी भी 'कृत्वोऽर्थ' प्रत्यय से निष्पन्न शब्द का प्रयोग हो तो उसके योग में अधिकरणभूत कालवाची शब्द में शेषत्वविवक्षा करने पर षष्ठी होगी। उदाहरणस्वरूप 'द्विरह्नो भोजनम्' और 'पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्' में भोजनक्रिया की क्रमशः द्विरावृत्ति तथा पञ्चावृत्ति हुई है। ऐसी स्थिति में अधिकरणभूत कालवाची 'अहन्' शब्द में शेष में षष्ठी हुई है। इसके विपरीत, शेषत्वविवक्षा नहीं करने पर प्रत्युदाहरण में अधिकरण सप्तमी दिखाई गई है। अन्तर यह है कि शेषत्वविवक्षा

षष्ठ्यन्त का समास नहीं होगा, पर अधिकरणत्वविवक्षा में सप्तम्यन्त का मास होगा। यह सूत्र 'दिवस्तदर्थस्य' से लेकर 'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवता-म्प्रदाने' तक की त्रिसूत्री के बाद समासप्रतिषेधार्थ पुनः शेषत्वविवक्षा में ठी का विधान करता है और इसतरह पूर्व के सात सूत्रों के साथ 'अष्टसूत्री' गता है।

कर्तृकर्मणोः कृति ।२।३।६५। कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च ष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्त्ता कृष्णः ।

कृदन्त प्रत्यय से निष्पन्न शब्द के योग में कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी होती । वस्तुतः कर्त्ता और कर्म का मतलब कर्तृवाची तथा कर्मवाची शब्द है। अंतः कृदन्तप्रत्ययनिष्पन्न शब्द के योग में कर्त्ता तथा कर्म के अर्थ में आये ए शब्द में षष्ठी विभक्ति होगी। अब कर्त्ता और कर्म की स्थिति पूर्ववाक्य स्पष्ट हो जाती है। यथा 'कृष्णस्य कृतिः' का पूर्ववाक्य 'कृष्णः करोति' गा और 'जगतः कर्त्ता कृष्णः' का 'कृष्णः जगत् करोति'। दोनों ही वाक्यों स्पष्ट हो जाता है कि 'कृष्ण' शब्द 'कर्त्ता' है तथा 'जगत्' शब्द कर्म। अतः नों जगह √कृ से क्रमशः क्तिन् और तृच् प्रत्ययों से निष्पन्न 'कृति' तथा र्त्ता' शब्दों के योग में कर्तृभूत 'कृष्ण' तथा कर्मभूत 'जगत्' शब्दों में षष्ठी ई है। किन्तु, दूसरे उदाहरण में शंका उठती है कि जिस तरह 'कर्त्ता' शब्द के ग में 'जगत्' शब्द में षष्ठी हुई उस तरह 'कृष्ण' शब्द में यह क्यों नहीं ई। वस्तुतः 'कृष्ण' शब्द में षष्ठी संभव ही नहीं क्योंकि दोनों पदों में र्भाव होने के कारण कारक की दृष्टि से वह 'कर्त्ता' शब्द के समकक्ष Co ordinate) हो जाता है। इस तरह 'कृष्ण' शब्द में यहाँ प्रथमा को ड़ अन्य कोई विभक्ति हो ही नहीं सकती।

गुणकर्मणि वेष्यते। नेताऽश्वस्य स्रुघ्नं, स्रुघ्नस्य वा। ति किम् ! तद्भिने मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् ।

कृदन्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में प्रधान कर्म के साथ यदि गौणकर्म Secondary Accusative) भी रहे तो गौणकर्म में विकल्प से षष्ठी ती है। तात्पर्य यह कि प्रधानकर्म में नित्य षष्ठी होगी। उदाहरणस्वरूप

पूर्ववाक्य 'अश्वं स्रुघ्नं नयति' में 'अश्व' प्रधानकर्म है और 'स्रुघ्न' गौणकर्म। अतएव 'नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा' में √नी से तृच् प्रत्यय निष्पन्न 'नेता' शब्द के योग में गौणकर्म 'स्रुघ्न' में षष्ठी और विकल्प में द्वितीया हुई है। 'अश्व' प्रधानकर्म है, अतः उसमें नित्यरूप से षष्ठी दिखलाई गई है। यहाँ वार्त्तिक में 'गुण कर्म' का अर्थ है गौण कर्म। ये दोनों प्रकार के कर्म संभव हो सकते हैं केवल द्विकर्मक धातु के योग में। अतः अर्थ हुआ कि यदि किसी द्विकर्मक धातु से कोई कृदन्त प्रत्यय लगाकर यथावत् शब्द निष्पन्न किया जाय तो उसके योग में प्रधान कर्म में नित्य षष्ठी होगी और गौणकर्म में वैकल्पिक। इस तरह इस वार्त्तिक में द्विकर्मक धातु के साथ प्रधान कर्म और गौणकर्म में षष्ठी प्रसंग का समाधान हुआ है। पुनः मूल सूत्र में कृदन्त निष्पन्न शब्द के योग में कर्त्ता में षष्ठी अकर्मक और सकर्मक दोनों धातुओं के प्रयोग में हो सकती है, लेकिन कर्म में षष्ठी केवल सकर्मक के प्रयोग में हो।

वस्तुतः यह नियम केवल कृदन्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में लागू होता है, तद्धितप्रत्ययान्त के योग में नहीं। इसीलिये प्रत्युदाहरण में 'कृतपूर्वी कटम्' में तद्धित प्रत्यय 'इनि' से निष्पन्न 'कृतपूर्वी' शब्द के योग में 'कट' शब्द में द्वितीया दिखलाई गई है। पूर्वं कृतोऽनेनेति कृतपूर्वी। लेकिन 'ओदनस्य पाचकतमः' में तद्धित 'तमप्-' प्रत्ययान्त 'पाचकतम' शब्द के योग में षष्ठी कैसे हुई? वस्तुतः मेरी समझ में कृदन्त तृच् प्रत्यय से निष्पन्न 'पाचक' शब्द की ही यहाँ प्रमुखता रहने के कारण पूर्व निष्पन्न शब्द के योग में भी षष्ठी ही होती है। इस तरह 'तमप्' यहाँ कोई नया अर्थ नहीं देता, बल्कि 'पाचक' के 'पाचकत्व'-अर्थ पर ही जोर देता है। इस प्रकार शब्देन्दुशेखर में स्पष्टतः दिखला दिया गया है कि 'ओदन पाचकतमः' प्रयोग बिल्कुल गलत है। इसके विपरीत, मतुप् के अधिकार में 'प्रज्ञाश्रद्धार्चादिभ्यो णः'[1] सूत्र के अन्तर्गत मूलकार (वृत्तिकार?) ने 'प्राज्ञो व्याकरणम्' उदाहरण दिया है।

अस्तु, यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो 'तदर्हम्'[2] सूत्र के

---

१. पाणिनि : ५।२।१०१।

२. ,, : ५।१।११७।

निर्देश के अधार पर 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' सूत्र स्वयं अनित्य सिद्ध होता है। इसीलिये तो 'धार्यैरामोदमुत्तमम्'[1] प्रयोग संगत होता है। यहाँ कृदन्त-प्रत्ययनिष्पन्न तृतीयान्त 'धार्यैः' शब्द के योग में 'उत्तमम् आमोदम्' में षष्ठी के विकल्प में द्वितीया भी उत्पन्न होती है। किन्तु, बालमनोरमाकार ने बतलाया है कि उपर्युक्त भट्टिवाक्य का अर्थ 'उत्तममामोदं पुष्पादीनां गृहीत्वा दुःखस्य पोषकैः'—ऐसा करके तथा √धा से निष्पन्न तृतीयान्त 'धार्यैः' का 'पोषकैः' अर्थ करने पर 'गृहीत्वा' का अध्याहार कर बिना सूत्र को अनित्य बतलाये और कृदन्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी को सर्वथा नित्य सिद्ध करते हुए ही द्वितीया की सिद्धि हो सकती है।

उभयप्राप्तौ कर्मणि ।२।३।६६। उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ।

पुनः एक ही कृदन्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में जहाँ एक ही वाक्य में कर्त्ता और कर्म उभय की प्राप्ति हो, वहाँ केवल कर्म में षष्ठी होगी। अनुक्त रहने के कारण 'कर्त्ता' में तृतीया होगी। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में कृदन्त घञ् प्रत्यय से निष्पन्न 'दोह' शब्द के योग में केवल 'गो' शब्द में षष्ठी हुई है। इसके विपरीत, अनुक्तावस्था में कर्त्तृभूत 'अगोप' शब्द में तृतीया हुई है। पूर्ववत् यहाँ भी पूर्ववाक्य का आश्रय लेने पर 'कर्त्ता' और कर्म की स्थिति आसानी से समझ में आ जाती है। 'आश्चर्यः गवां दोहोऽगोपेन' का पूर्ववाक्य होगा—'गाः दोग्धि अगोप इत्याश्चर्यम्'। वस्तुतः सूत्रस्थ 'उभयप्राप्ति' शब्द बहुव्रीहि है—'उभयोः (कर्तृकर्मणोः) प्राप्तिर्यस्मिन् (तस्मिन् कृति)। वृत्तिकार का अभिप्राय भी ऐसा ही दीखता है। अन्यथा 'उभयोः प्राप्तिः'—ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समझने पर तो 'ओदनस्य पाकः ब्राह्मणानां च प्रादुर्भावः' में एक वाक्य में एक कृदन्त प्रत्यय निष्पन्न शब्द के योग-रूपक प्रतिबन्ध के अभाव में केवल कर्मभूत 'ओदन' शब्द में ही षष्ठी उत्पन्न होगी, कर्तृभूत 'ब्राह्मण' शब्द में नहीं। अतः जहाँ एक वाक्य में अनेक कृदन्तप्रत्ययनिष्पन्न शब्द रहेंगे वहाँ प्रत्येक के योग में षष्ठी होगी—चाहे

---

१. भट्टिकाव्य : ६।७९।

जिसमें षष्ठी होगी वह पद कर्तृवाची हो या कर्मवाची। लेकिन ऐसा तभी होगा यदि वहाँ इस सूत्र का कोई अपवादनियम लागू नहीं होता हो। अतः इस सूत्र के अधिकार-क्षेत्र में उन्हीं कृदन्त शब्दों के योग में षष्ठी होगी जो एक ही वाक्य स्थित हों तथा कर्त्ता और कर्म दोनों के योग में हों।

पुनः यदि एक ऐसे वाक्य की कल्पना करें जिसमें कर्त्ता के साथ-साथ द्विकर्मक धातु का योग रहने के कारण प्रधान और गौण दोनों कर्म हों तो क्या दोनों कर्म में षष्ठी हो जायगी? वस्तुतः ऐसी स्थिति में 'गुणकर्मणि वेष्यते' वार्तिक लग जाना चाहिये। अतः इसके अनुसार केवल गौणकर्म में षष्ठी होनी चाहिये। किन्तु इस अर्थ में स्थिति पूर्ण स्पष्ट नहीं है। यदि उपर्युक्त वार्तिक के उदाहरण—'नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा' में कर्तृपद का प्रयोग रहता और प्रस्तुत सूत्र के आशय से उसका तृतीयान्त प्रयोग होता तो उपर्युक्त केवल गौणकर्म में षष्ठी की स्थिति स्वीकार की जा सकती थी। परन्तु, ऐसा नहीं रहने से हम कह सकते हैं कि जहाँ केवल प्रधान और गौण ही कर्म ही रहेंगे—कर्तृपद नहीं रहेगा—वहाँ केवल गौणकर्म में षष्ठी होगी तथा जहाँ कर्त्ता के साथ-साथ दोनों कर्म रहेंगे वहाँ 'कर्त्ता' में तृतीया और दोनों कर्म में षष्ठी होगी। इसके विपरीत यदि हम मानें कि जहाँ भी प्रधान और गौण—दो कर्म की स्थिति होगी वहाँ केवल गौणकर्म में षष्ठी होगी। तो सर्वथा गौणकर्म में ही षष्ठी कही जायगी। वस्तुतः यह भेद दृष्टिकोण के भेदमात्र से हो सकता है। इस सम्बन्ध में आश्चर्य है कि तत्त्वबोधिनीकार भी कुछ प्रकाश नहीं दे पाये हैं।

स्त्रीप्रत्यययोरकाऽकारयोर्नायं नियमः। भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः।

उपर्युक्त सूत्र के अपवाद स्वरूप इस वार्तिक के अनुसार एक ही वाक्य में एक ही कृदन्तपद के योग, में 'कर्त्ता' और 'कर्म' दोनों शब्दों में षष्ठी होती है। 'अक' (ण्वुल्) तथा 'अ' प्रत्यय लगने के बाद यदि किसी शब्द में 'स्त्रियां क्तिन्'[1] के अधिकार में विहित कोई स्त्रीप्रत्यय लगा हो तो ऐसे शब्द के योग में

---

१. पाणिनि : ३।३।९४।

उपर्युक्त सूत्र-नियम लागू नहीं होता। उदाहरणस्वरूप 'भेदिका' और 'बिभित्सा' ऐसे ही शब्द हैं। भेदनं भेदिका। भेत्तुमिच्छा बिभित्सा। ये क्रमशः √भिद् से ण्वुल् से अकादेश में टाप् और 'इत्व' करने पर तथा सन्नन्त √भिद् से 'अ प्रत्ययात्' से अकार प्रत्यय, फिर टाप् करने पर निष्पन्न होते हैं। अत्र 'भेदिका रुद्रस्य जगतः' का पूर्ववाक्य है—'भिनत्ति रुद्रः जगत्' और 'बिभित्सा रुद्रस्य जगतः' का 'बिभित्सते रुद्रः जगत्'। ऐसी स्थिति में स्पष्ट हो जाता है कि 'भेदिका' और 'बिभित्सा' शब्दों के योग में दोनों उदाहरणों में क्रमशः कर्तृभूत 'रुद्र' तथा कर्मभूत 'जगत्' शब्दों में षष्ठी हुई है।

शेषे विभाषा। स्त्रीप्रत्यये इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येणाऽऽचार्यस्य वा।

लेकिन पूर्वोक्त 'अक' (ण्वुल्) और 'अकार' प्रत्ययों से 'शेष' कृदन्त प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में 'कर्ता' और 'कर्म' दोनों में विभाषा से षष्ठी होगी। तात्पर्य यह है कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि'[1] सूत्र के अनुसार कर्म में तो सतत षष्ठी होती ही है, इस वार्तिक के अनुसार दोनों की प्राप्ति रहने पर 'कर्ता' में यह विकल्प से होगी। कुछ वैयाकरणों के अनुसार 'अक' और 'अकार' प्रत्ययों से भिन्न किसी भी कृदन्त, किन्तु स्त्रीप्रत्ययान्त ही शब्द के योग में यह विभाषा लागू होती है। वस्तुतः इस नियम को सीधे उपर्युक्त 'स्त्रीप्रत्यययोः—' नियम का आनुमानिक नियम (Corollary) माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'स्त्रीप्रत्यय' की अनुवृत्ति होती है और 'शेषत्व' से 'अकाऽकारप्रत्ययभिन्नत्व' अर्थ निकलता है। उदाहरणस्वरूप 'अकाऽकारभिन्न' क्तिन् प्रत्ययान्त 'कृति' शब्द के योग में 'विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा' में कर्मभूत 'जगत्' शब्द में नित्य तथा कर्तृभूत 'हरि' शब्द में वैकल्पिक षष्ठी दिखलाई गई है। यहाँ उदाहरण का पूर्ववाक्य होगा—'विचित्रं जगत् करोति हरिः'।

---

१. पाणिनि : २।३।६६।

इसके विपरीत, कुछ लोगों के मत में 'विभाषा' का अर्थ—'अकाऽकार-प्रत्ययभिन्नस्य'—'स्त्रीप्रत्यय' से विशेषित नहीं है। अतः तदनुसार केवल 'अकाऽकार' से भिन्न स्त्रीप्रत्ययान्त प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द के योग में नहीं, अपितु उक्त प्रत्यय भिन्न किसी भी कृदन्त शब्द के योग में 'विभाषा' लागू होगी। वस्तुतः यह मत उन वैयाकरणों का है जो इस नियम का सम्बन्ध सीधे 'स्त्री प्रत्यययोः—' वार्त्तिक से न मानकर मूलसूत्र 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' से मानते हैं। इसके अनुसार 'शब्दानामनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा' में यद्यपि 'अनुशासन' शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं है—केवल अकाऽकार-भिन्न प्रत्यय से निष्पन्न है—तथापि उसके योग में कर्तृभूत 'आचार्य' शब्द में वैकल्पिक षष्ठी दिखलाई गई है। यहाँ 'अनुशासन' शब्द का अर्थ है—'अनुशिष्यन्ते असाधुशब्देभ्यः प्रविभज्य बोध्यन्ते येनेत्यनुशासनम्'। वस्तुतः 'अकाऽकारभिन्नप्रत्ययनिष्पन्न स्त्रीप्रत्ययान्त' के दो अर्थ संभव हैं—'कृदन्त स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द' जिनमें कृदन्त लगाने के बाद कोई स्त्री प्रत्यय लगता है और 'स्त्री प्रत्यय कृदन्त' शब्द जिनमें क्तिन् की तरह कोई स्त्रीलिंग कृदन्त प्रत्यय लगा रहता है। इस प्रसंग में प्रत्येक स्थान में 'स्त्रीप्रत्यय' का अर्थ है—'स्त्रियां क्तिन्' के अधिकार में विहित स्त्रीप्रत्यय और वैभाषिक षष्ठी प्रसंग का तात्पर्य है 'कर्त्ता' में वैभाषिकता क्योंकि कर्म में तो किसी भी अवस्था में षष्ठी होती ही है। पुनः वैकल्पिक पक्ष में कर्त्ता में जहाँ षष्ठी नहीं होगी वहाँ अनुक्तावस्था में तृतीया ही होती है।

क्तस्य च वर्त्तमाने ।२।३।६७। वर्त्तमानार्थकस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'न लोके'ति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ।

वर्त्तमान काल के अर्थ में लगे क्त प्रत्यय से निष्पन्न शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति होती है। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'[1] सूत्र से मत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से यह प्रत्यय उक्त अर्थ में होता है। अतः अर्थ यह हुआ कि मत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से वर्त्तमानार्थक क्त प्रत्यय से

१. पाणिनि : ३।२।१८३।

निष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होगी। यहाँ 'मति' का अर्थ है 'इच्छा'। अतएव उपर्युक्त सूत्र में इसके साथ 'बुद्धि' शब्द का बिना किसी पुनरुक्ति के ग्रहण हुआ है। इसलिये उदाहरण में 'राज्ञां मतः' का अर्थ है—'राजा का अभिप्रेत (व्यक्ति) है'। इसी प्रकार 'राज्ञां बुद्धः' तथा 'राज्ञां पूजितः' का अर्थ भी वर्त्तमानकालिक होगा। यह सूत्र 'न लोकाव्यय—'[1] सूत्र में कथित निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द के योग में विहित षष्ठी-निषेध के अपवादस्वरूप है। वस्तुतः यह निषेध लागू होता है भूतकालिक क्त प्रत्ययान्त के साथ। इसके विपरीत, वर्त्तमानकालिक क्त प्रत्ययान्त के योग में तो इस सूत्र के अनुसार षष्ठी होगी ही। इसीलिये 'पूजितो यः सुरासुरैः' प्रयोग में 'पूजित' शब्द भूतकालिक क्त प्रत्यय से व्युत्पन्न माना जायगा।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि वर्त्तमान काल में क्त प्रत्यय केवल ऊपर निर्दिष्ट मत्यर्थक आदि धातुओं से होता है किन्तु इसका यह कदापि मतलब नहीं कि इन धातुओं से भूतकालिक क्त प्रत्यय नहीं होता। वस्तुतः जहाँ क्त प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी रहे वहाँ वर्त्तमानार्थक 'क्त' समझना चाहिये और जहाँ तृतीया रहे वहाँ भूतार्थक। इसी के अनुरूप वर्त्तमानार्थक 'क्त' प्रत्यय कर्तृवाच्य में समझा जायगा और भूतार्थक कर्मवाच्य या भाववाच्य में। पुनः वर्त्तमान कालिक क्त प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी करने का लाभ यह हुआ कि समासप्रकरण में 'क्तेन च पूजायाम्'[2] सूत्र के अन्तर्गत इस षष्ठ्यन्त का समास नहीं होगा, अन्यथा भूतकालिक क्त प्रत्ययान्त के साथ तृतीया समास होगा, इस प्रकार 'राजपूजितः' में तृतीयासमास ही समझना चाहिये।

अधिकरणवाचिनश्च ।२।३।६८। अधिकरणवाचिनश्च क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा ।

इस सूत्र के अनुसार अधिकरणवाची क्त प्रत्यय निष्पन्न शब्द के योग में

---

१. पाणिनि : २।३।६९।

२. „ : ।२।२।१२।

षष्ठी विभक्ति होती है। अधिश्रियतेऽस्मिन्नित्यधिकरणम् । उदाहरणस्वरूप 'आसितम्', 'शयितम्' आदि क्त प्रत्ययान्त अधिकरणवाची शब्द के योग में 'एषाम् आसितम्', 'एषां शयितम्' आदि में षष्ठी हुई है। इन शब्दों में 'नपुंसके भावे क्तः'[1] सूत्र से नपुंसकलिंग में भाव में 'क्त' प्रत्यय हुआ है और इनको अधिकरणवाची इसलिये कहते हैं क्योंकि ये अधिकरण का अर्थ देते हैं— 'आस्यते अस्मिन् इति आसितम्'—'जिस पर बैठा जाय', और 'शय्यते अस्मिन् इति शयितम्'—'जिस पर सोया जाय'। यहाँ उपर्युक्त सूत्र से 'क्तस्य' की अनुवृत्ति होती है। तब सूत्र का अर्थ पूरा होता है। यह भी पूर्वसूत्र की तरह 'न लोकाव्यय—', सूत्र[2] के षष्ठीनिषेध का अपवाद स्वरूप है। वस्तुतः इन दोनों सूत्रों में विशेष विशेष अवस्था में प्रत्ययनिष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी प्रयोग का ही समाधान है। साथ साथ यह भी दर्शनीय है कि दोनों सूत्रों के क्षेत्र के अन्तर्गत विशेष विशेष अवस्था में 'कर्त्ता' में ही नियतरूप से षष्ठी-विधान हुआ है। अतः इस अर्थ में जहाँ ये सूत्र 'कर्तृकर्मणोः —' सूत्र तथा बाद के सूत्रों से भिन्नता रखते हैं वहाँ इन दोनों सूत्रों-सहित बाद के सभी सूत्र-वार्तिक मूल सूत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' के ही पोषक एवं पूरक हैं।

पुनः चूँकि यह अधिकरणवाची 'क्त' सकर्मक और अकर्मक दोनों धातुओं से हो सकता है इसलिये जब किसी सकर्मक धातु से होगा तो निष्पन्न शब्द के योग में 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' दोनों ही में षष्ठी होगी और जब किसी अकर्मक धातु से होगा तो केवल 'कर्त्ता' में षष्ठी होगी। वस्तुतः ऐसी स्थिति में कर्म तो रहेगा नहीं जिसमें उसमें भी षष्ठी हो। अब सूत्रस्थ उदाहरण में 'भुक्तम्' में √भुज् और 'शयितम्' में √शी क्रमशः सकर्मक और अकर्मक हैं। अतः 'शयितम्' के योग में केवल 'इदम् एषां शयितम्' लेकिन 'भुक्तम्' के योग में कर्मभूत 'ओदन' शब्द में भी षष्ठी की प्राप्ति होने पर 'इदम् एषां भुक्तम् ओदनस्य' होगा। किन्तु यहाँ एक समस्या उपस्थित होती है कि एक वाक्य में एक ही कृदन्त शब्द के योग में 'कर्त्ता' और 'कर्म' दोनों में षष्ठी कैसे हो

1. पाणिनि : ३।३।११४।
2. ,, : २।३।६९।

सकती है। वस्तुतः 'कर्त्ता' की षष्ठी इसी सूत्र से सिद्ध है। लेकिन 'कर्म' की षष्ठी 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से सिद्ध न होकर 'कर्तृकर्मणोः—'[1] सूत्र से ही समझनी चाहिये। यहाँ मूल सूत्र की प्राप्ति मध्येऽपवादन्याय से होती है। फिर, समझने की एक और आवश्यक बात यह है कि इस सूत्र से विहित षष्ठी विभक्ति वाले पद का भी समास नहीं होता है। यह निषेध वस्तुतः 'अधिकरण वाचिनश्च'[2] सूत्र से होता है।

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।२।३।६९। एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशाः—कुर्वन् कुर्वाणः (वा) सृष्टिं हरिः । उ—हरिं दिदृक्षुः । अलङ्करिष्णुर्वा । उक—दैत्यान् घातुको हरिः ।

यह षष्ठी का निषेधक सूत्र है। इसके अनुसार 'लादेश', 'उ', 'उक', 'अव्यय', 'निष्ठा', 'खलर्थक' तथा तृन् प्रत्याहार के अन्तर्गत समाविष्ट प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। इस प्रकार सूत्र का विच्छिन्न क्रम ऐसा होगा—'न ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम्'। सूत्र में केवल 'ल' के ग्रहण से सामान्यतया लट् आदि लकार का ग्रहण होता है। किन्तु चूँकि उनका साक्षात् प्रयोग यहाँ अनपेक्षित है इसलिये उनके 'आदेश' (अर्थात् 'स्थानिक') प्रत्ययों का ही ग्रहण समझा जायगा। ये आदेश प्रत्यय हैं—शतृ, शानच्, क्वसु, कानच् आदि। इनमें शतृ और शानच् लट् के स्थान में होते हैं तथा क्वसु और कानच् लिट् के स्थान में। अतः लट् स्थानिक शतृ, शानच् प्रत्यय वर्त्तमानार्थक होते हैं और लिट्-स्थानिक क्वसु, कानच् भूतार्थक। लेकिन 'कटं कारयाञ्चकार' में 'कट' शब्द में द्वितीया कैसे हुई क्योंकि लिडन्त √कृ के पूर्व जो कृदन्त 'णमुल्' का रूपान्तर 'आम्' प्रत्यय है उससे निष्पन्न शब्द के योग में तो षष्ठी होनी चाहिये ? वस्तुतः

---

१. पाणिनि : २।३।६५।

२. ,, : २।३।६८।

'आम.'[1] सूत्र के अनुसार 'आम्' का लुक् भी लकार का आदेश समझा जाता है। अतः इसी सूत्र के अन्तर्गत षष्ठी के प्रतिषेधस्वरूप यह द्वितीया हो जायगी।

किन्तु, 'वज्रिर्वज्रं, पपिः सोमम्' में तो कथित सूत्र से षष्ठी का प्रतिषेध नहीं हो सकता क्योंकि 'वज्रिः' और 'पपिः' के क्रमशः 'कि' और 'किन्' प्रत्यय न लकार हैं और न लकार के आदेश ही। वस्तुतः आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च'[2] सूत्र से लिट्कार्य का अतिदेश होता है, न कि लिट् संज्ञा होती है। पुनः विशेष का अतिदेश होने पर सामान्य के अतिदेश में भी कोई क्षति नहीं। वस्तुतः 'कटं कारयाञ्चकार' में 'कट' शब्द में बिना अधिक झंझट में पड़े ईप्सिततमत्व में ही कर्मणि द्वितीया समझनी चाहिये। किन्तु 'वज्रिर्वज्रं पपि सोमम्' में तो उपर्युक्त शास्त्रीय व्याख्या के विपरीत 'वज्रि' तथा 'पपि' शब्दों के योग में द्वितीया कोई अयुक्त नहीं लगती है। सचमुच मुझे 'कि' और 'किन्' प्रत्ययों को 'आदेश' मानने में कोई क्षति नहीं दिखलाई पड़ती। पुन वृत्ति में 'लादेश' के अन्तर्गत केवल 'शतृ' और 'शानच्' के उदाहरण देने से अन्य लादेश प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी निषेध के विषय में शंका भी उपस्थित हो जाती है। किन्तु तत्त्वबोधिनीकार तथा बालमनोरमाकार के मन्तव्य से सूचित होता है कि ऐसी शंका निराधार है।

अब दूसरे प्रत्ययों को देखें। इनमें सर्व प्रथम 'उ' प्रत्यय है। यहाँ सूत्र में यद्यपि केवल 'उ' प्रत्यय का ग्रहण हुआ है, किन्तु उससे उदन्त इष्णु (च्) आदि का भी ग्रहण होगा। इसीलिये 'हरिं दिदृक्षुः' के साथ 'हरिम् अलङ्करिष्णुः' भी उदाहरणस्वरूप उपन्यस्त है। इसी प्रकार उक् प्रत्ययान्त 'घातुक' शब्द के योग में भी 'दैत्यान् घातुको हरिः' में षष्ठी नहीं होकर द्वितीया हुई है।

कमेरनिषेधः। लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययं—जगत् स्रष्टा। सुखं कर्तुम्। निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान्

---

1. पाणिनि : २।४।८१।
2. ,, : ३।२।१७।

हतवान् विष्णुः। खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। 'तृ' न्निति प्रत्याहारः 'शतृशानचा'विति 'तृ' शब्दादारभ्य (आ) तृनो नकारात्। शानन्—सोमं पवमानः। चानश्—आत्मानं मण्डयमानः। शतृ—वेदमधीयन्। तृन्—कर्त्ता लोकान्।

किन्तु; यदि √कम् से उक्त प्रत्यय लगा हो तो निष्पन्न शब्द के योग में षष्ठी के निषेध का भी निषेध अर्थात् षष्ठी का विधान होता है। उदाहरणस्वरूप 'कामुक' शब्द के योग में कर्मभूत 'लक्ष्मी' शब्द में षष्ठी दिखलाई गई है। पुनः सूत्र में पूर्वापर प्रसंग देखने से पता चलता है कि 'अव्यय' का अर्थ है—कृदन्त अव्यय प्रत्यय। ये हैं क्त्वा और तुमुन् क्योंकि इनसे निष्पन्न शब्द अव्यय होते हैं। इनके योग में भी कर्म में षष्ठी के अपवादस्वरूप द्वितीया होती है। किन्तु बालमनोरमाकार मानते हैं कि यहाँ 'अव्यय' का अर्थ केवल 'कृदन्त अव्यय प्रत्यय' न लेकर कोई भी अव्यय सामान्य लेना चाहिये, अन्यथा 'देवदत्तं हिरुक्' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। लेकिन तब 'अधः' 'अधस्तात्' अव्ययपदों के योग में षष्ठी कैसे हो जाती है ? वस्तुतः यह षष्ठी 'पुरः' 'पुरस्तात्' के आधार पर ही 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' सूत्र के अन्तर्गत होती कही जा सकती है। पुनः केवल 'अधोऽधः' आदि आम्रेडित के योग में ही द्वितीया नियमित कर देने से यहाँ उसका आनुमानिक निषेध हो जाता है। इस प्रकार अन्य नियमानुसार—कभी साक्षात् किसी सूत्र के, अन्तर्गत, या ज्ञापन, निर्देश आदि के आधार पर अन्यान्य कई अव्यय के योग में भी षष्ठी विभक्ति होती दीखती है।

पुनः 'क्तक्तवतू निष्ठा'[१] सूत्र से क्त और क्तवतु प्रत्यय निष्ठा कहलाते हैं। इनसे निष्पन्न शब्द के योग में भी षष्ठी का निषेध होता है। अतः शब्दशक्ति के अनुरूप क्त प्रत्ययान्त के योग में साधारणतया 'अनुक्त 'कर्त्ता' में तृतीया और उक्त 'कर्म' में प्रथमा तथा क्तवतु-प्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता में प्रथमा और 'कर्म' में द्वितीया होती है। वस्तुतः ऐसा इसलिये होता है चूँकि 'क्त' कर्मवाच्यगत

१. पाणिनि १।१।२६।

प्रत्यय है और 'क्तवतु' कर्तृवाच्यगत। इसी प्रकार 'खल्' और जिस अर्थ में यह लगता है उस अर्थ में होने वाले अन्य प्रत्यय भी कर्मवाच्यगत होते हैं। उदाहरणस्वरूप खल्प्रत्ययान्त 'ईषत्कर.' शब्द के योग में वृत्ति में अनुक्त कर्तृभूत 'हरि' शब्द में तृतीया हुई है। इसीतरह 'ईषत्पानः सोमो भवता' प्रयोग भी होगा। यहाँ 'ईषत्पान' में युच् प्रत्यय है। फिर, 'तृन्' प्रत्याहार के अन्तर्गत प्राप्त प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में भी षष्ठी नहीं होती है। 'लट. शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे[1]', 'सम्बोधने च',[2] 'तौ सत्[3]' 'पूङ्यजोः शानन्[4],' 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्[5]', 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि'[6] 'द्विषोऽमित्रे[7] 'सुञो यज्ञसंयोगे[8], अर्हः प्रशंसायाम्,[9] 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु'[10] और 'तृन्'[11]—यही सूत्र का क्रम है। इसमें 'लटः शतृशानचा—' सूत्रस्थ 'शतृ' के 'तृ' से अन्तिम सूत्र 'तृन्' के नकार को लेकर यह प्रत्याहार बनता है। इसके अन्तर्गत प्रसंगप्राप्त कृदन्त प्रत्यय ये हैं—शतृ, शानच्, शानन्, चानश् और तृन्। इनमें शतृ और शानच् की व्याख्या पृथक् ही ऊपर 'आदेश' के अन्तर्गत हो गई है। अतः यहाँ केवल 'शानन्', 'चानश्', और 'तृन्' की व्याख्या होगी।

शानन् आदि में 'लट. शतृशानच' सूत्र की अनुवृत्ति नहीं होने के कारण

---

१ पाणिनि : २।३।१२४।
२. ,, : २।३।४७, ३।२।१२५।
३. ,, : ३।२।१२७।
४. ,, : ३।२।१२८।
५. ,, : ३।२।१२९।
६. ,, : ३।२।१३०।
७. ,, : ३।२।१३१।
८. ,, : ३।२।१३२।
९. ,, : ३।२।१३३।
१० ,, : ३।२।१३४।
११. ,, : ३।२।१३५।

भी 'लादेश' के अन्तर्गत उनकी सिद्धि नहीं होने से उन्हें अलग करके इस प्रत्याहार के अन्तर्गत रखना पड़ता है। वस्तुतः बालमनोरमाकार के अनुसार प्रत्याहार बनाने के लिए यहाँ 'लटः शतृशानचा—' सूत्रस्थ 'शतृके' 'तृ' का ग्रहण—था यों कहें कि यहाँ शतृ, शानच् का ग्रहण ही नहीं होना चाहिये क्योंकि 'लादेश' के अन्तर्गत एक बार उनका ग्रहण हो चुका है। लेकिन ऐसी अवस्था में 'तृन्' प्रत्याहार बनाना मुश्किल हो जाता है। वस्तुतः अन्यथा भी तो शतृ, शानच् के ग्रहण की पुनरावृत्ति हो जाने के कारण सूत्र में दोष आ ही जाता है। इसके अतिरिक्त इसलिये भी हम इस दोष से कभी बच नहीं सकते चूँकि 'लादेश के विषय में 'लटः शतृशानचा—'सूत्र के अलावे भी निर्दिष्ट सूत्र क्रम में 'इङ्धार्योः शत्र कृच्छ्रिणि' सूत्र के अन्तर्गत कम-से-कम शतृ की पुनरावृत्ति से बचना मुश्किल है। वस्तुतः इस अन्तिम दोष के परिहार-पक्ष में कहा जा सकता है कि यह शतृ विशेष अर्थ में निर्धारित रहने के कारण पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। अन्ततो-गत्वा शतृ के अन्तर्गत किसी भी अन्य अर्थ का समावेश तो हो जाता है और यद्यपि शानन् और चानश् प्रत्यय शानच् के सदृश ही बतलाये जा सकते हैं और कहा जा सकता है कि इनका समावेश शानच् के अन्तर्गत हो सकता था—तथापि प्रयोग एवं अनुबन्ध की भिन्नता के आधार पर इनकी पृथक् स्थिति संगत एवं दोषहीन सिद्ध की जा सकती है। तब रहा तृन् प्रत्यय। यह भी प्रयोग के आधार पर ठीक तृच् के सदृश है। भिन्नता केवल अनुबन्धगत है। इसलिये साधारणतया व्यवहार में षष्ठी प्रयोग का भी पक्ष किया जा सकता है क्योंकि जब ऐसी अवस्था में षष्ठी रहेगी तो तृच्, अन्यथा द्वितीया रहने पर तृन् समझा जायगा।

द्विषः शतुर्वा। मुरस्य मुरं वा द्विषन्। सर्वोऽयं कारकषष्ठ्या (सह) प्रतिषेधः। शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।

लेकिन इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी निषेध के विषय में एक बात मार्के की यह है कि शतृ प्रत्ययान्त √द्विष् के योग में निषेध वैकल्पिक होता है। अतः उदाहरण में षष्ठी के विकल्प-पक्ष में द्वितीया भी दिख-

लाई गई है। यहाँ √द्विष में शतृ 'द्विषोऽमित्रे'[1] से हुआ है। किन्तु यह बात याद रखनी चाहिये कि यह निषेध सूत्र में सर्वत्र केवल कारक षष्ठीविषयक है। अत शेषत्व विवक्षा में तो षष्ठी कहीं भी अवश्य होगी। वस्तुत वृत्तिकार ने 'षष्ठी शेषे' सूत्र के अन्तर्गत कहा है—'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठ्येव'। इसलिये इस सूत्र के अन्तर्गत जहाँ षष्ठी के निषेध में द्वितीयादि विभक्तियाँ कर्मादि कारक में हो सकती हैं वहाँ उनके स्थान में सर्वत्र षष्ठी सम्भव है। उदाहरण स्वरूप 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्', 'नरकस्य जिष्णु' में क्रमश शतृप्रत्ययान्त 'कुर्वन्' और इष्णुच्प्रत्ययान्त 'जिष्णु' शब्दों के योग में 'ब्राह्मण' और 'नरक' शब्दों में शेषत्वविवक्षा से षष्ठी हुई है। इस तरह 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र के अन्तर्गत उपन्यस्त उदाहरण 'आश्चर्यो गवाँ दोहोऽगोपेन' में भी कर्तृपद 'अगोप' में शेषत्वविवक्षा में षष्ठी हो सकता है।

इस सूत्र के अन्तर्गत कारक षष्ठी के प्रतिषेध के वस्तुत दो ही अपवाद हैं—'कमेरनिषेध' और 'द्विष शतुर्वा'। इनमें भी निर्विकल्प पूर्ण निर्' अपवाद केवल प्रथम ही है। इसके विपरीत, दूसरा वैकल्पिक है। लेकि इस सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि एक में जहाँ षष्ठी का निषे अस्वाभाविक लगता है वहाँ दूसरे में वैकल्पिक भी षष्ठी का विधान। इ' प्रकार आपातत व्याकरणसम्मत 'दैत्यान् घातुकः' की जगह 'दैत्यानां घातुक स्वाभाविक लगता है और 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' की अपेक्षा 'ब्राह्मणं कुर्वन'। पुन इस सम्बन्ध में दूसरी विशेष बात यह है कि यहाँ जो कहा गया कि सर्व केवल कारक षष्ठी का प्रतिषेध हुआ है न कि शेष षष्ठी का भी तो इस सू' के प्रसंग में कारक षष्ठी का अर्थ है 'मुख्यत्वेन षष्ठी', न कि 'क्रियान्वयित्वेन षष्ठी'—क्योंकि सम्बन्ध तो कारक नहीं है।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ।२।३।७०। भविष्यत्यकस्य, भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी।

---

१. पाणिनि ३।२।१३१।

यदि अक (ण्वुल्) प्रत्यय भविष्यत् काल के अर्थ में और इन प्रत्यय (इनि ?) उस भविष्यत् अर्थ में ही, या आधमर्ण्य अर्थ में लगा हो तो इनसे निष्पन्न शब्दों के योग में षष्ठी नहीं होगी। इस प्रकार षष्ठी के प्रतिषेधार्थ पूर्व सूत्र से इस सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति होती है। यद्यपि सूत्र में 'अक' और 'इन्' के ठीक सम्मुख इसी क्रम में 'भविष्यत्' और 'आधमर्ण्य' की स्थिति है, तथापि यथासंख्य अर्थ (Sense of siriality) संभव नहीं क्योंकि 'इन्' प्रत्यय 'आधमर्ण्य' के अर्थ में भी होता है। अतः यदि 'अक' आधमर्ण्य अर्थ में होता तो दोनों प्रत्यय दोनों अर्थों में विहित कहे जा सकते थे। वस्तुतः भाष्यकार[१] ने भी 'अकस्य भविष्यति' एवं 'इन अधमर्ण्ये च' इस प्रकार सूत्र का योगविभाग करके व्याख्या की है। अत्र प्रसंग प्राप्त 'अक' (ण्वुल्) प्रत्यय 'भविष्यति गम्यादयः'[२] अधिकार में तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्[३] से विहित ही गृहीत है। अतः उदाहरण में 'सतः पालकोऽवतरति' का अर्थ है—सज्जनान् पालयिष्यन् प्रादुर्भवति'। इसके विपरीत, 'ण्वुल् तृचौ—'[४] सूत्र से विहित 'अक' (ण्वुल्) प्रत्यय यहाँ गृहीत नहीं है क्योंकि वह कालसामान्य में विहित होता है, न कि कालविशेष (अर्थात् 'भविष्यत्') में। इसलिये इस सूत्र के अन्तर्गत विहित अकनिष्पन्न शब्द के योग में 'ओदनस्य पाचकः', पुत्रपौत्राणां दर्शकः' आदि में षष्ठी का निषेध नहीं होता है।

पुनः 'व्रजं गामी' (गमी ?) उदाहरण है 'भविष्यत्' अर्थ में विहित 'इन्' प्रत्यय से निष्पन्न शब्द के योग में षष्ठी निषेध का। तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'गामी' शब्द 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' सूत्र से आवश्यक अर्थ में णिनि' प्रत्यय से निष्पन्न है। यह प्रत्यय यद्यपि कालसामान्य में विहित होता तथापि 'भविष्यति गम्यादयः' के अधिकार में होने से भविष्यत् काल के अर्थ में प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत, बालमनोरमाकार के अनुसार यह

---

१. महाभाष्यम् : २।३।२६।
२. पाणिनि : ३।३।३।
३. ,, : ३।३।१०।
४. ,, : ३।१।१३३।

शब्द 'गमेरिनिः' से औणादिक 'इनि' प्रत्यय से निष्पन्न है। किन्तु इसके अनुसार भी 'भविष्यत्' अर्थ में विहित करने के लिये इस सूत्र को 'भविष्यति गम्यादय' के अधिकार में लाना ही पड़ता है। इस सम्बन्ध में हरदत्त का मत है कि कुछ गम्यादिगणीय शब्द औणादिक हैं और कुछ अष्टाध्यायी के के सूत्रों से निष्पन्न हैं। अत. इस मतानुसार भी यह शब्द औणादिक 'इनि' और 'णिनि' दोनों से निष्पन्न कहा जा सकता है। लेकिन 'गत्यर्थ कर्मणि द्वितीया चतुर्थी'[1] सूत्र से ही यदि चतुर्थी के साथ-साथ द्वितीया भी सिद्धि हो जाती है तो अलग इस सूत्र से क्या लाभ? वस्तुत. इस सूत्र का मुख्य उद्देश्य तो षष्ठी प्रतिषेध है। फिर, इसके फलस्वरूप द्वितीया हो जाती है। पुनः इसका 'गत्यर्थ कर्मणि—' सूत्र से महान् अन्तर यह है कि इस सूत्र में जहाँ उदाहरणस्थ 'व्रजं गामी' में इन् प्रत्यय से निष्पन्न √गम् का प्रयोग है वहाँ उस सूत्र में सीधे किसी भी गत्यर्थक धातु के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी कही गई है।

फिर 'गत्यर्थकर्मणि'—सूत्र के अन्तर्गत यदि 'व्रजं गामी' की सिद्धि की जाय तब तो वैकल्पिक चतुर्थी करने पर 'व्रजाय गामी' और 'व्रजाय गन्ता' भी हो जायगा। किन्तु यह इष्ट नहीं है। साथ-साथ[2] भाष्यकार ने 'अकेनो'—' सूत्र के व्याख्याक्रम में 'ग्रामं गमी' (ग्राम गामि) उदाहरण दिया है। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि 'गत्यर्थकर्मणि—' सूत्र से इस सूत्र का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। पुन 'शतं दायी' आधमर्ण्य के अर्थ में इन् प्रत्ययान्त का उदाहरण है। 'अधमर्णो यस्य सोऽधमर्णः तस्य भावः आधमर्ण्यम्', इस तरह आधमर्ण्य का अर्थ है 'दायित्व'। यहाँ भी 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' सूत्र से ही णिनि प्रत्यय होता है। इस प्रकार 'आवश्यक' अर्थ में (अवश्यं करोतीति 'अवश्यङ्कारी कटस्य' उदाहरण होगा। लेकिन चूँकि 'आवश्यक' अर्थ सूत्र में निर्दिष्ट नहीं है इसलिये उस अर्थ में षष्ठी का प्रतिषेध नहीं होता। फिर, 'भविष्यति गम्यादय.' के अधिकार में इसका अन्वय अपेक्षित नहीं होने के कारण यह वर्तमान काल के अर्थ में भी होता है।

---

१. पाणिनि : २।३।१२।

२. महाभाष्यम् : २।३।२६।

कृत्यानां कर्त्तरि वा ।२।३।७१। (कृत्यानां कर्त्तरि) वा षष्ठी स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'भव्यगेये'ति कर्त्तरि यद् विधानाद-नभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते । कृत्यानाम् । उभयप्राप्ता-विति नेति चानुवर्त्तते । तेन—नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः—कर्त्तरि वा । उक्तोऽर्थः ।

कृदन्त के अन्तर्गत कुछ प्रत्यय हैं जो 'कृत्य' कहलाते हैं । ये प्रत्यय है—-यत्, ण्यत् , तव्य अनीयर् आदि । यह द्रष्टव्य है कि इन सभी प्रत्ययों में 'य'-कार है जो वस्तुतः निष्पन्न शब्दों में भी रहता है। 'कृत्' में यही 'य'कार जोड़कर 'कृत्य' संज्ञा इन प्रत्ययों की दी गई है । इस सूत्र के अनुसार 'कृत्य' प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के योग में 'कर्त्ता' में विकल्प से षष्ठी होती है । उदाहरणस्वरूप √सेव् और ण्यत् से निष्पन्न 'सेव्य' शब्द के योग में कर्तृपद 'अहम्' में वैकल्पिक षष्ठी हुई है । अतः षष्ठी के अभावपक्ष में अनुक्त रहने के कारण 'कर्त्ता' में तृतीया हुई है । यहाँ भी कर्तृपद का निर्धारण पूर्ववाक्य से हो सकता है । यह पूर्ववाक्य होगा—'अहं सेवे हरिम्' । वस्तुतः ये कृत्य भी कर्मवाच्यगत प्रत्यय हैं । अतएव उदाहरण में कर्मभूत 'हरि' शब्द में उक्त होने के कारण प्रथमा ही विभक्ति हुई है । लेकिन, अपवादस्वरूप 'कृत्य' प्रत्यय का कहीं-कहीं कर्तृवाच्यगत विधान होता है । अतएव प्रत्युदाहरण में 'गेय' शब्द 'भव्यगेय—'[१]सूत्र से कर्त्ता के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय से निष्पन्न है और कर्तृभूत 'माणवक' शब्द को विशेषित करता है ।

अब 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र के अनुसार कृत् प्रत्यय से निष्पन्न किसी शब्द के योग में एक ही वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों रहने पर केवल कर्म में ही षष्ठी होती है । लेकिन यदि किसी कृत्य प्रत्यय से निष्पन्न शब्द के योग में एक ही वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों रहे तो न कर्त्ता में और न कर्म में ही षष्ठी होती है । इस आशय की व्याख्या भाष्यकार ने सूत्रस्थ 'कृत्यानां' और

१. पाणिनि : ३।४।६८।

'कर्तरिधा' का योग विभाग करके 'कृत्यनाम्' में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से 'उभयप्राप्तौ' तथा 'न लोकाव्यय—' सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति करके की है। वस्तुत. परोक्षरूप से 'कर्म' में षष्ठी का प्रतिषेधक तो यह सूत्र स्वयं है। फिर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से 'कर्म' में संभावित तथा इस सूत्र के अन्तर्गत 'कर्त्ता' में विकल्प से प्राप्त षष्ठी का भी निषेध हो जाता है। हेतु यह है कि 'कृत्य' कर्मवाच्यगत प्रत्यय होते हैं और इनसे निष्पन्न शब्दों के योग में कर्मवाच्य में 'कर्म' भी उक्त हो जाने के कारण प्रथमा विभक्ति लेता है और अनुक्त 'कर्त्ता' में तृतीया विभक्ति हो जाती है। किन्तु जहाँ द्विकर्मक धातु के योग में दो कर्म होते हैं वहाँ उक्त से इतर कर्म में षष्ठी प्रसंग उपस्थित होता है जो पुन इसी सूत्र के अन्तर्गत बाधित हो जाता है।

इस प्रकार उदाहरण में 'नेतव्या' 'व्रजं गाव कृष्णेन' में 'कृष्ण' तथा 'गो' शब्दों में षष्ठी निरवकाश रह जाती है। तब रही प्रधान कर्म 'व्रज' की बात—सो इसमें इसी नियमानुसार षष्ठी बाधित हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य ध्यातव्य है कि गौणकर्म 'गो' में 'गुणकर्मणि वेप्यते' वार्तिक से विकल्प से प्राप्त थी। मनोरमाकार ने दूसरा उदाहरण दिया है—'दोग्धव्या पय· गाव कृष्णेन'। वस्तुतः इन उदाहरणों में कर्त्ता तथा प्रधान और गौण कर्मों की स्थिति पूर्ववाक्य से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह पूर्व उदाहरण का पूर्ववाक्य होगा—'नयति व्रज गा कृष्ण:', और इस उदाहरण का—'दोग्धि पय· गा कृष्ण.'। इनमें क्रमश· √नी और √दुह् द्विकर्मक धातु, 'व्रज' और 'पयस' प्रधान कर्म तथा दोनों जगह 'गो' गौण कर्म हैं।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।७२।

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी। तुल्यः समः सदृशो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। अतुलोपमाभ्यां किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

इस सूत्र के अनुसार 'तुला' और 'उपमा' शब्दों को छोड़ 'तुल्य' या इसके पर्यायवाची शब्दों के योग में तृतीया और षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं। उदाहरणस्वरूप 'कृष्णस्य तुल्यः' भी हो सकता है और 'कृष्णेन

तुल्यः' भी । इसी प्रकार 'कृष्णस्य सदृशः' और 'कृष्णेन सदृशः' आदि भी हो सकते हैं। किन्तु 'तुला' और 'उपमा' शब्दों के योग में केवल षष्ठी होगी। यहाँ 'तुला' शब्द का अर्थ है 'तुलना'। परन्तु, 'इव' आदि शब्दों के योग में यह सूत्र लागू नहीं होगा, अन्यथा 'गौरिव गवयः' में 'इव' शब्द के योग में तृतीया या षष्ठी हो जाती। वस्तुतः इस विषय में कुछ वैयाकरणों का मन्तव्य है कि चूँकि 'अतुलोपमाभ्याम्' में पर्युदास प्रतिषेध है इसलिये 'अव्ययभिन्न तुल्यार्थक' शब्दों को ही इस सूत्र के अधिकार-क्षेत्र में समझना चाहिये। तब 'तुलां यदारोहति दन्तवाससा'[1] स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना'[2] आदि प्रयोग कैसे सिद्ध होते हैं ? वस्तुतः दोनों स्थलों में 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[3] सूत्र के अन्तर्गत 'सह' या इसके पर्य्यायवाची गम्यमान भी शब्द के योग में अप्रधान अर्थ में 'दन्तवासस्' या 'शंभु' शब्द में तृतीया उपपन्न होगी। अतः 'तुलां यदारोहति दन्तवाससा' का अर्थ है—'दन्तवाससा सह (सत्) तुलाम् आरोहति' और 'स्फुटोपमं भूतिसितेन शंभुना' का अर्थ है—'भूतिसितेन शंभुना सह स्फुटोपमम्' (स्फुटा उपमा यस्य स, तम्)। वस्तुतः गौर से देखने पर दूसरा प्रयोग भी सीधे सूत्र की परिधि में आ जाता है क्योंकि 'स्फुटोपम' का अर्थ तो 'सदृश' ही है। अतः यहाँ 'सह' या इसके पर्य्याय अन्य किसी अव्यय की भी योजना करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी अवस्था में 'भूतिसितेन शंभुना स्फुटोपमम्' का अर्थ होगा—'भूतिसितेन शंभुना सदृशम्'।

अब सूत्र में कहा गया है कि केवल 'तुला' और 'उपमा' को छोड़ तुल्यार्थक शब्दों के योग में तृतीया और षष्ठी हो। लेकिन वस्तुतः इनके पर्य्यायवाची अन्य के योग में भी केवल षष्ठी होती है। अतः जिस प्रकार 'कृष्णस्य तुला नास्ति' होगा उसी प्रकार 'कृष्णस्य सादृश्यं नास्ति' भी होगा। इसलिये जहाँ 'कृष्णेन तुला नास्ति' प्रयोग रहे वहाँ उपर्युक्त युक्ति के अधार पर गम्यमान 'सह' का अन्वय करने पर ही तृतीया का समाधान निकाला जा सकता है। पुनः सूत्र में जो कहा गया कि तुल्यार्थक शब्दों के योग में

---

१. कुमारसंभव : ५।३४।
२. शिशुपालवध : १।४।
३. पाणिनि : २।३।१९।

तृतीया और षष्ठी तथा तुल्य आदि के योग में केवल षष्ठी होगी—भो अभिप्रेत अर्थ यह है कि विशेषण शब्दों के साथ तृतीया और षष्ठी दोनों विभक्तियाँ होंगी पर संज्ञा शब्दों के योग में केवल षष्ठी और यह षष्ठी वस्तुत. 'कर्तृकर्मणोः कृति'[१] सूत्र से ही होती है।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः । ।२।१।७३। एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी आशिषि। आयुष्यं चिरंजीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्र भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात् । आशिषि किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्य्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । इति षष्ठी ।

'आशिष्' अर्थ में आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल तथा सुख और इनके पर्य्यायवाची एवं हित शब्द के योग में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं। उदाहरणस्वरूप 'आयुष्यं कृष्णस्य भूयात्' भी होगा और 'आयुष्य कृष्णाय भूयात्' भी । इसी तरह 'चिरं जीवितं कृष्णाय भूयात्' और 'चिरंजीवितं कृष्णस्य भूयात्' आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। वस्तुत उदाहरण में सर्वत्र 'भूयात्' शब्द से ही 'आशिष्' अर्थ सूचित होता है जो प्रथमपुरुष एकवचन में आशीर्लिङ् में √भू का रूप है। वृत्ति में सूत्रस्थ 'अर्थ' शब्द का पूर्व के अन्य शब्दों के साथ पृथक् ग्रहण हुआ है। इस तरह यह प्रयोजनवाची भिन्न शब्द के रूप में गृहीत होता है न कि पूर्वगत शब्दों का पर्य्याय बतलाता है। वस्तुत मुझे इस व्याख्या में कुछ आपत्ति दीखती है। वस्तुत आपत्ति यह है कि 'आशिष्' अर्थ में प्रयोजनवाची अर्थ शब्द का प्रयोग अच्छा नहीं जँचता। हाँ, कथञ्चित् यह प्रयोग सगत कहा जा सकता है यदि इसके साथ उपयुक्त किसी अन्य शब्द का प्रयोग करें—जैसे, कृष्णस्य कृष्णाय वा अर्थः 'सिद्ध.' भूयात्। दूसरी ओर सूत्रस्थ 'अर्थ' शब्द के पूर्वगत शब्दों के पर्य्यायवाची के योग में 'आशिष्' अर्थ में चतुर्थी या

१. पाणिनि : २।३।६५।

षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न केवल स्वाभाविक लगता है, अपितु, आवश्यक भी प्रतीत होता है। केवल वृत्तिकार की दृष्टि से एक तुच्छ आपत्ति रह जाती है और वह यह कि ऐसा करने से अन्तिम शब्द 'हित' का पर्य्यायत्वेन ग्रहण नहीं हो पाता है। किन्तु वृत्तिकार का ऐसा अभीष्ट है। इसलिये वे सर्वत्र 'अर्थ' का ग्रहण समझते हैं।

वस्तुतः सूत्र में 'आशिष्' अर्थ बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में चतुर्थी नहीं—केवल षष्ठी होगी। उदाहरणस्वरूप 'देवदत्तस्य आयुष्यं भवति' में 'आयुष्य' शब्द का योग रहने पर भी निर्दिष्ट अर्थ के अभाव में 'देवदत्त' शब्द में केवल षष्ठी हुई है। पुनः सूत्रस्थ 'भद्र' और 'मद्र' शब्द एकार्थक हैं, अतः वृत्तिकार के अनुसार दोनों में से किसी एक का ग्रहण सूत्र में पर्य्याप्त होता। किन्तु यदि हम ऐसा समझें कि 'भद्र' शब्द के पर्य्यायवाची के योग में भी नियम की प्रवृत्ति के लिये उसके साथ 'भद्र' शब्द का प्रयोग सूत्रकार का संकेत है—तो ऐसी बात नहीं। वस्तुतः सूत्रस्थ 'अर्थ' शब्द को यदि हम पर्य्याय अर्थ में समझते हैं तो यह कल्पना निष्प्रयोजन हो जाती है। पुनः अन्यथा भी सूत्रस्थ सभी शब्दों के पर्य्याय का ग्रहण होता ही है। पुनः सम्प्रदान के प्रसंग में 'हितयोगे च' वार्तिक के अन्तर्गत कहा गया है कि 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी होती है। फिर इस सूत्र में अलग करके षष्ठी के साथ चतुर्थी का वैकल्पिक विधान क्यों किया गया ? वस्तुतः वार्तिक में 'आशिष्' भिन्न अर्थ में चतुर्थी का विधान हुआ है और यहाँ 'आशिष्' अर्थ में। अतः कोई भ्रान्ति नहीं है। सूत्र में 'च' कार षष्ठी के समुच्चयार्थ है जिससे उक्त शब्दों के योग में चतुर्थी के साथ वैकल्पिक षष्ठी विभक्ति भी हो पाती है।

—:०:—

अधिकरणकारक : सप्तमी विभक्ति

आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५। कर्त्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रिया-या आधारः कारकमधिकरणसंज्ञं स्यात् ।

आधार की अधिकरण संज्ञा होती है। आध्रियतेऽस्मिन् इत्याधार'— जिसमें (या जिस पर) कुछ रक्खा जाय। पुनः अधिक्रियतेऽस्मिन् इत्यधिकरणम्। इस प्रकार अधिकरण का अर्थ भी प्रायः वही है। अतः निश्चय ही आधार और अधिकरण के बीच समीकरणता (Equation) स्थापित की जा सकती है। लेकिन कुछ स्थलों को छोड़कर ही ऐसा कहा जा सकता है जहाँ आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। वस्तुतः कारक क्रियान्वयी होता है। अतः आशंका उपस्थित होती है कि किसका आधार अधिकरण होता है। वस्तुतः क्रिया का आधार ही अधिकरणसंज्ञक होता है। पुनः आकांक्षा जगती है कि कैसी क्रिया का आधार अधिकरण होता है? यहाँ हम कह सकते हैं कि कर्त्तृकर्मगता क्रिया का आधार ही उक्त संज्ञक होता है। इसका हेतु यह है कि अधिकरणसंज्ञा केवल क्रिया और आधार के बीच संभव नहीं होती है। इसीलिये वृत्तिकार ने सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि 'कर्त्ता' और 'कर्म' के द्वारा ही तन्निष्ठ क्रिया का आधार अधिकरण होता है। इस तरह 'भूतले घटः' प्रयोग में भी 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार समझना चाहिये।'

किन्तु, कारक की दृष्टि से मेरी समझ में अधिकरण और अन्यान्य किसी कारक के बीच अन्तर है। इस प्रकार दूसरे कारक में जहाँ क्रिया का सम्बन्ध सर्वथा साक्षात् रहता है। यहाँ अधिकरण में ऐसा नहीं दीखता। अतएव तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार यदि 'भूतले घटः' प्रयोग के अन्तर्गत 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार समझकर 'भूतल' शब्द में अधिकरणत्व में कारकत्व दिया जा सकता है तो 'राज्ञः पुरुषः' में भी 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार करके 'राजन्' शब्द में सम्बन्धत्व में कारकत्व कहा जा सकता है। वस्तुतः विश्लेषण करने पर अधिकरण के अन्तर्गत दो स्थितियाँ दीखती हैं। इनमें एक में तो

क्रिया का सम्बन्ध साक्षात् रहता है जैसे 'मार्गं गच्छति' में, किन्तु दूसरी में वह साक्षात् नहीं रहता है जैसे 'भूतले घटः' में। अतः इस दृष्टि से अधिकरण को हम अर्धकारक (Semi-case) कह सकते हैं।

सप्तम्यधिकरणे च ।२।३।३६। अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद्दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेपिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चे-त्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छाऽ-स्ति । सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्ति-कार्थेभ्यः—' इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ।

यह सूत्र अधिकरण में, और सूत्रस्थ 'च'कार के द्वारा 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति करके दूरार्थक और अन्तिकार्थक शब्दों में भी सप्तमी विभक्ति का निर्देश करता है। अब चूँकि सप्तमी अधिकरण में होती है और अधिकरण होता है आधार ही, इसीलिये 'आधार' का विश्लेषण आवश्यक है। यह तीन प्रकार का होता है—औपश्लेपिक, वैषयिक तथा अभिव्यापक। अतः तीनों आधार की अधिकरण संज्ञा होती है और उनमें अधिकरणत्वविवक्षा में सप्तमी विभक्ति होती है। वस्तुतः 'उपश्लेप' कहलाता है संयोगादि सम्बन्ध, इसलिये तत्प्रयोज्य आधार ही औपश्लेपिक कहलाता है। यह कर्तृद्वारक हो सकता है और कर्मद्वारक भी। इनमें प्रथम का उदाहरण है—'कटे आस्ते'। यहाँ 'देवदत्त' या अन्य कोई ऐसे 'कर्त्ता' का अध्याहार है जिसका साक्षात् उपश्लेप 'कट' के साथ व्यक्त होता है। पुनः द्वितीय को उदाहरण है—'स्थाल्यां पचति'। यहाँ 'ओदन' या ऐसे अन्य कोई कर्मभूत पदार्थ का 'उपश्लेप' स्थाली के साथ है न कि किसी 'कर्त्ता' का। निश्चय ही इन स्थलों में 'उपश्लेप' संयोगात्मक है चूँकि क्रमशः 'देवदत्त' या अन्य कोई ऐसे 'कर्त्ता' का 'कट' के साथ और 'स्थाली' के साथ 'ओदन' या अन्य कोई ऐसे कर्म का केवल सांयोगिक (Accidental) सम्बन्ध है। लेकिन इसके विपरीत, 'रूपे रूपत्वमस्ति', 'शरीरे चेष्टा अस्ति' आदि

वाक्य में बालमनोरमाकार के अनुसार समवायत्वेन उपश्लेष समझना चाहिये जहाँ 'रूप' से 'रूपत्व' को और 'शरीर' से शारीरिक 'चेष्टा' को अलग नहीं किया जा सकता।

पुनः वैषयिक आधार विषयता सम्बन्धकृत होता है। उदाहरणस्वरूप 'मोक्षे इच्छा अस्ति' का मतलब है—'मोक्षविषये इच्छा अस्ति'। इसी वैषयिक आधार में प्राप्त सप्तमी को कभी-कभी 'विषयधिकरणे सप्तमी' कहा जाता है। लेकिन समवायात्मक (Insaparable) सम्बन्धप्रयुक्त आधार की तरह एक और प्रकार का आधार होता है जिसे 'अभिव्यापक' कहते हैं जैसे 'सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति' 'तिलेषु तैलम्' आदि में। मेरी समझ में समवायात्मक औपश्लेषिक और अभिव्यापक आधारों में कोई भेद नहीं है। अतः जिस प्रकार 'रूप' में 'रूपत्व' सम्पूर्णत्वेन विद्यमान है उसी प्रकार 'तिल' में 'तैल'। पुनः चेष्टा यद्यपि आपाततः शरीर के एक अंगमात्र में स्पष्ट दीख सकती है तथापि यह मान्य होगा कि यह 'चेष्टा' सम्पूर्णत्वेन 'शरीर' की भी कहलायगी। तब अन्तर मात्र इतना है कि समवायात्मक औपश्लेषिक का धर्म है अविभोज्यत्व जबकि अभिव्यापक का धर्म है व्यापकत्व। लेकिन जिस प्रकार 'तिल' में 'तैल' व्याप्त कहा गया है उसी प्रकार 'शरीर' में भी 'शारीरिक चेष्टा' अभिव्याप्त मानी जा सकती है। इसी तरह जैसे कहा गया कि 'रूप' से 'रूपत्व' को विभाजित नहीं किया जा सकता वैसे ही जब 'तिल' से तैल पृथक् निचोड़ लिया जायगा तो वस्तुतः 'तिल' की पूर्वावस्था नहीं रहेगी।

पुनः 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' सूत्र के अन्तर्गत दूर और अन्तिक तथा इनके पर्यायवाची शब्दों में द्वितीया, तृतीया और पंचमी विभक्तियों के साथ इस सूत्र की परिधि में सप्तमी विभक्ति भी होगी। इस प्रकार 'ग्रामस्य दूरम्', 'ग्रामस्य दूरेण' 'ग्रामस्य दूरात्' और 'ग्रामस्य दूरे'—ये सभी प्रयोग होंगे। वस्तुतः प्रत्येक अवस्था में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा के अपवादस्वरूप ही ये विभक्तियाँ होती हैं। किन्तु, कुछ वैयाकरण उपर्युक्त तीन प्रकार के आधार के अलावे 'सामीपिक' नामक चौथा भी आधार मानते हैं अन्यथा उनके अनुसार 'नद्याम् आस्ते', 'कटे आस्ते', 'गंगायां घोषः' आदि प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है। वस्तुतः यदि 'उपश्लेष' शब्द की व्याख्या करें—उपश्लेष्यते

श्लेषः (सम्बन्धः)— तो 'औपश्लेषिक' आधार से ही 'सामीपिक' का काम चल जाता है । इस सम्बन्ध में 'औपश्लेषिक' के 'सामीपिक' अर्थनिर्धारण में हम भाष्यकार तथा कैयट की सहायता ले सकते हैं। वस्तुतः भाष्यकार ने 'इको यणचि सूत्र पर 'अचि इकः······' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अचि उपश्लिष्टस्य इकः······' और इस पर कैयट ने भाष्य किया है—'अच् समीपोच्चारितस्य इ कः······'। इसी प्रकार 'मासे अतिक्रान्ते दीयते' के अन्तर्गत मासे' में तथा 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' के अन्तर्गत—'एकादश मापा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते' उदाहरणस्थ 'कार्षापणशते' में अभिव्यापक तथा वैषयिक अधिकरण संभव न होने के कारण भाष्यकार के द्वारा औपश्लेषिक या सामीपिक अधिकरण बतलाना बिल्कुल संगत लगता है ।

लेकिन ऐसी व्याख्या के अनुसार तो 'कटे आस्ते' आदि प्रयोग में औपश्लेषिक अधिकरण उपपन्न नहीं होता है क्योंकि जो 'कट' पर बैठता है वह 'कट' के समीप तो नहीं बैठता ! यदि 'कट' के सम्पूर्ण भाग पर बैठता तो अभिव्यापक अधिकरण कहा जा सकता था— लेकिन ऐसी बात भी नहीं है । किन्तु 'कट' के एक भाग की बैठने क्रिया द्वारा व्याप्ति होने के कारण यहाँ गौण अभिव्यापक अधिकरण माना जा सकता है । तथापि औपश्लेषिक अधिकरण का अस्तित्व पृथक् सिद्ध रखने के लिये 'उपश्लेष' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये—उप समीपे श्लेषः स्पर्शः । लेकिन जहाँ तक सामीपिक अधिकरण का प्रश्न है इसे हम मोटे तौर पर औपश्लेषिक के साथ ही समझेंगे । हाँ, कुछ ऐसे प्रयोग हो सकते हैं जहाँ ये दोनों आपस में विरोधी दीख पड़ें । ऐसी स्थिति में स्पष्टतः हम इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा देंगे । पुनः[१] स्वरितेनाधिकारः' और [२]'साधकतमं करणम्' सूत्रों के व्याख्याक्रम में तीनों प्रकार के अधिकरणों की समीक्षा करते हुए भाष्यकार अपना मत प्रकट करते हैं कि इनमें अभिव्यापक ही मुख्य है क्योंकि उसमें सर्वावयवकृत व्याप्ति होती है अतः वैषयिक और औपश्लेषिक गौण हैं । वस्तुतः मुख्य और गौण मानने की आवश्यकता इसलिये पड़ी चूँकि

१. पाणिनि : १।३।११।

२. ,, : १।४।४२।

यदि सर्वावयवव्याप्तिरूप आधार ही 'अधिकरण हो तब तो केवल 'तिलेषु तैलम्' 'दध्नि सर्पिः' आदि में अधिकरणत्व हो और 'गङ्गायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' आदि में नहीं। वस्तुतः यदि 'गंगायां घोषः' आदि में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सामीपिक अधिकरण नहीं भी माना जाय तो लक्षणा के द्वारा अधिकरणत्व निरूपित हो सकता है।

क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्। अधीती व्याकरणे। अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्चेति' कर्त्तरीनिः।

इन्विषयक क्त प्रत्ययान्त शब्द के कर्म में सप्तमी का उपसंख्यान किया जाय। अर्थात् यदि नपुंसक में भाव अर्थ में हुए क्त प्रत्यय से निष्पन्न शब्द में इन् प्रत्यय लगा हो तो सम्पूर्ण व्युत्पन्न शब्द के कर्म में द्वितीया के बदले सप्तमी विभक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप अधिपूर्वक √इङ् से क्त प्रत्यय करने पर 'अधीतम्' शब्द निष्पन्न होता है और उसमें यदि 'अधीतम् अनेन' इस अर्थ में 'इष्टादिभ्यश्च'[1] सूत्र से इन् प्रत्यय किया जाय तो व्युत्पन्न 'अधीती' शब्द के कर्मभूत 'व्याकरण' शब्द में सप्तमी हो जायगी— अधीती व्याकरणे। वस्तुतः वार्तिककार ने इस विशेष स्थिति का स्पष्टीकरण इसलिये कर दिया जिससे यहां भी 'कृतपूर्वी कटम्' की तरह तद्धितप्रत्ययान्त शब्द के कर्म में द्वितीया ही न हो जाय। लेकिन 'मासमधीती व्याकरणे' में 'अधीती' शब्द के योग में 'मास' शब्द में भी सप्तमी नहीं हो जायगी, प्रत्युत अकर्मक धातु के योग के निमित्त यहाँ कालवाची शब्द में उसके बहिरङ्ग होने के कारण 'अकर्मकधातुभिर्योगे—' वार्तिक से ही द्वितीया हो जायगी।

साध्वसाधुप्रयोगे च। साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले।

साधु और असाधु शब्दों के योग में भी सप्तमी होगी। वस्तुतः यह सप्तमी शेषषष्ठी के अपवादस्वरूप होती है। यहाँ कोई आवश्यक नहीं कि 'अर्चा' के अर्थ में ही 'साधु' शब्द का ग्रहण हो क्योंकि 'साधुर्भृत्यो राज्ञि'

---

१. पाणिनि : ५।२।८८।

आदि स्थलों में भी इसके योग में सप्तमी होती है जहाँ तत्त्वमात्र का कथन तात्पर्य रहता है। पुनः यदि 'अर्चा' अर्थ में ही ऐसा प्रयोग समझा जाय तो 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः'[१] सूत्र में इस शब्द का ग्रहण निष्प्रयोजन हो जायगा।

निमित्तात् कर्मयोगे। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोग-समवायात्मकः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः'॥ हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता (तन्निवारणार्थमिदम्)। सीमाऽण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमृगः। योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति।

यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ प्रयोग नहीं, अपितु सम्बन्ध है। पुनः 'निमित्त' शब्द का अर्थ हेतु नहीं, अपितु फल है। अतः नियमार्थ यह हुआ कि यदि कर्मवाची पद के प्रवृत्तिनिमित्त के साथ फलवाची के प्रवृत्ति निमित्त का सम्बन्ध रहे तो फलवाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होगी। वस्तुतः सम्बन्ध या तो संयोगात्मक हो सकता है या समवायात्मक। इनमें संयोगात्मक सम्बन्ध में वियोज्यवस्तुएँ आपस में सम्बन्धित रहती हैं किन्तु सम-वायात्मक यदि सम्बन्धित विषयों को अलग कर दिया जाता है तो कुछ हानि स्पष्टतः दीखती है। लेकिन यहाँ यह कह देना ठीक है कि यद्यपि वृत्ति में 'योग' का अर्थ समवाय और संयोग दोनों दिया गया है तथापि उदाहरण केवल समवाय सम्बन्ध के हैं। अब उदाहरणस्थ कारिका में द्वीपिन्, कुञ्जर, चमरी तथा पुष्कलक कर्म हैं और चर्मन्, दन्त, केश तथा सीमन् क्रमशः उनके निमित्तवाची। अतः स्पष्टतः द्वीपिन् और चर्मन्, कुञ्जर और दन्त, चमरी और केश तथा पुष्कलक और सीमन् के बीच अंगांगिभाव में समवायात्मक सम्बन्ध है।

पुष्कलक और सीमन् के बीच हरदत्त के अनुसार संयोग सम्बन्ध ही है। लेकिन यह भी तब उत्पन्न होता है जब हम 'पुष्कलक' का अर्थ रखते हैं

१. पाणिनि : २।३।४३।

शंकु। ऐसी अवस्था में 'सीम्नि पुष्कलको हतः' का अर्थ होगा—'सीमज्ञानार्थं शंकुः निखातः' वस्तुतः उदाहरणों में प्रायः प्रत्येक दशा में कर्म की स्थिति कर्तृवाच्यगत रहने से द्वितीयान्त पद से स्पष्ट हो जाती है—केवल अभी-अभी उद्धृत 'सीम्नि पुष्कलको हतः' में नहीं क्योंकि यहाँ कर्मभूत 'पुष्कलक' शब्द कर्मवाच्यगत होने से उक्त होने के कारण प्रथमान्त हो गया है। वस्तुतः हेतुतृतीया या तादर्थ्यचतुर्थी के अपवादस्वरूप यहाँ सप्तमी होती है। अतएव प्रत्युदाहरण में 'वेतनेन धान्यं लुनाति' में वेतन तथा धान्य के बीच संयोग या समवाय सम्बन्ध के अभाव में 'वेतन' शब्द में केवल तृतीया होती है। इसका अर्थ वस्तुतः हो सकता है—'वेतनेन हेतुना धान्यं लुनाति' या 'वेतनार्थं धान्य लुनाति'। पुनः इस दृष्टि से भी कि कभी-कभी फल भी हेतु हो जाता है—हम 'वेतन' शब्द में हेतुतृतीया मान सकते हैं। इसके विपरीत 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' में यद्यपि 'चर्मन्' आपाततः 'हनन क्रिया' का हेतु दीख पड़ता है किन्तु वस्तुतः यह उसका फल है। अतः यहाँ यदि 'निमित्त' का 'फल' अर्थ नहीं होकर 'हेतु' ही अर्थ होता तो 'जाड्येन बद्धः' प्रयोग में 'जाड्य' शब्द में तृतीया के विकल्प में सप्तमी हो जाती। किन्तु, फल जो कभी-कभी हेतु हो जाता है वह इष्ट साधनता-ज्ञान के प्रवर्तक होने के कारण ही जैसे 'अध्ययनेन वसति' में। फिर जन्यजनकत्वादि सम्बन्ध के निवारणार्थ भी यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ 'संयोग' या 'समवाय' सम्बन्ध अभिहित हुआ है। अतः यदि वृत्तिकार ने 'योग' शब्द का यह अर्थ नहीं किया होता तो सम्बन्धमात्र इसका अर्थ होने पर नियम की परिधि बहुत बहुत विस्तृत हो जाती।

यस्य च भावेन भावलक्षणम्।२।३।३७। यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः।

यहाँ 'भाव' का अर्थ है 'क्रिया'। अतः सूत्र का अर्थ हुआ कि यदि किसी क्रिया से कोई अन्य क्रिया लक्षित होती हो तो जिसकी क्रिया हो उसमें और स्वयं उस क्रिया में सप्तमी विभक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत स्थल में 'गो' की दोहन क्रिया से गमन क्रिया लक्षित होती है, अतः 'गो' शब्द में

तथा उसकी दोहन क्रिया में सप्तमी विभक्ति हुई है। वस्तुतः यहाँ यह क्रिया लट्स्थानिक शानच् प्रत्यय से निष्पन्न वर्त्तमानकालिक है। लेकिन भूतकालिक क्रिया रहने पर भी ऐसा ही होगा। उदाहरणस्वरूप 'गोषु दुग्धासु गतः' भी हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि हर अवस्था में यह क्रिया किसी कृदन्त प्रत्यय से निष्पन्न और विशेषणात्मक होगी क्योंकि उपर्युक्त स्थिति में जिस क्रियावाची शब्द में सप्तमी होती है वह सहायक क्रिया रूपक होता है और जो अन्य क्रिया उससे सूचित होती है वह प्रधान क्रिया रहती है। पुनः कृदन्त निष्पन्न विशेषणात्मक यह क्रिया या तो कर्त्ता के आश्रय में हो सकती है या कर्म के आश्रय में। इस तरह वृत्तिस्थ उदाहरण में यह कर्माश्रया है क्योंकि वहाँ दुह्यमान 'गो' शब्द कर्मभूत है। कर्त्ताश्रया क्रिया के उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं—'ब्राह्मणेष्वधीयानेषु गतः'। यहाँ अधीयान 'ब्राह्मण' शब्द कर्तृभूत है। प्रत्येक अवस्था में शेषषष्ठी के अपवादस्वरूप लक्षकत्वसम्बन्ध में सप्तमी हुई है। किन्तु यह लक्षकत्व एक ओर क्रिया का होता है और दूसरी ओर क्रियाद्वारेण आश्रयभूत ब्राह्मणादि का। पुनः निर्ज्ञातकाल क्रिया की अनिर्ज्ञातकाल क्रिया की कालपरिच्छेदिका होने के कारण लक्षक होती है। इस तरह 'उदिते आदित्ये जुहोति' में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार हम सामीपिक अधिकरण में सप्तमी कह सकते हैं। लेकिन 'उपरागे स्नायात्' में 'उपराग' शब्द में उससे उपरागाश्रय काल लक्षित होने से केवल अधिकरण में सप्तमी मानी जायगी।

वस्तुतः सरलता के लिए इस सूत्र से हुई सप्तमी विद्यासागर प्रभृति ने 'भावे सप्तमी' कहकर पुकारा है।

अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च। सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।

जिस क्रिया में जो उचित या दक्ष होते हैं वे ही उसके 'अर्ह' (Deserving) होते हैं। अतः कर्तृत्व विवक्षित होने पर अर्हवाची शब्द में

सप्तमी होती है। उदाहरणस्वरूप 'सत्सु तरत्सु असन्त आसते' में तरण क्रिया के 'अर्ह' और कर्त्ता होने के कारण 'सत्' शब्द में और उसके कृदन्तनिष्पन्न विशेषणात्मक 'तरत्' क्रियापद में सप्तमी हुई है। इसी तरह 'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' में तरण क्रिया के अनर्हवाची—'असत्' शब्द में और उसके विपरीत कृदन्त निष्पन्न विशेषणात्मक 'तिष्ठत्' शब्द में सप्तमी हुई है। यहाँ 'असत्' शब्द तरण क्रिया का कर्तृभूत भी नहीं है। फिर दोनों की विपरीत अवस्थाओं में भी अर्हवाची 'सत्' शब्द की अकर्तृत्व-विवक्षा में तथा अनर्हवाची 'असत्' शब्द की कर्तृत्व विवक्षा में क्रमशः 'सत्' शब्द में तथा 'तरण की विपरीत क्रिया 'अवस्थान' के कृदन्त निष्पन्न विशेषणात्मक 'तिष्ठत्' शब्द में तथा 'असत्' शब्द में और तरण क्रिया के कृदन्त निष्पन्न विशेषणात्मक 'तरत्' शब्द में उदाहरणों में सप्तमी दिखलाई गई है। वस्तुतः इस वार्तिक में कर्तृत्व का अर्थ है तरण क्रिया का कर्तृत्व, न कि वाक्य का कर्तृत्व जैसा साधारणतया अर्थ होता है। पुनः 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'[1] सूत्र से ही आशय की पूर्त्ति हो जाने से यह वार्तिक निष्प्रयोजन दीखता है। किन्तु कैयट प्रभृति वैयाकरणों के मत में लक्षणलक्षणभाव की अविवक्षा में एक क्रिया से क्रियान्तर द्योतित होने पर सप्तमी के विधानार्थ यह आवश्यक है।

षष्ठी चाऽनादरे ।२।३।३८। अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति पुत्रे रुदतो वा पुत्रस्य प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः।

'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' सूत्र इस सूत्र का पूरक सूत्र है। जिसकी क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित हो उसमें और उसकी जो क्रिया हो उसमें सप्तमी के अतिरिक्त षष्ठी विभक्ति भी होगी यदि अनादर का भाव भी सूचित हो। उदाहरण में पुत्र की क्रिया है 'रोदन' जिससे दूसरी क्रिया सूचित होती है 'प्रव्रजन', इसीलिये 'पुत्र शब्द में और उसकी क्रिया शतृ प्रत्ययान्त 'रुदत्' में विकल्प से षष्ठी और सप्तमी दोनों ही विभक्तियाँ हुई हैं। यदि अनादर का

---

१. पाणिनि : २।३।३७।

भाव सूचित नहीं हो तो केवल 'रुदति पुत्रे प्राव्राजीत्' होगा। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' और इस सूत्र में अन्तर यह है कि वहाँ जहाँ केवल क्रियान्तर लक्षणभाव की आवश्यकता है तहाँ यहाँ अतिरिक्त रूप से अनादर भाव भी आवश्यक है। इसीलिये ऐसी स्थिति में जहाँ सप्तमी रहेगी वहाँ अनादर भाव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह विवक्षा पर निर्भर है। और ऐसी हालत में आवश्यकतानुसार दोनों में से कोई सूत्र लागू हो सकता है। लेकिन जहाँ षष्ठी रहेगी वहाँ केवल इसी सूत्र से उसकी सिद्धि हो सकती है। दोनों अवस्था में लक्षकत्व ही षष्ठी या सप्तमी का अर्थ होगा जब इस सूत्र से अनादर भाव में षष्ठी या सप्तमी का विधान होगा। धातु का अर्थ होगा अनादर भाव से विशिष्ट 'प्रव्रजन'। षष्ठी या सप्तमी विभक्ति तात्पर्य-ग्राहिका होगी और अनादर भाव लक्षक क्रिया के आश्रय पुत्रादि विषयक होगा।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च। २। ३। ३९।

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिक-सप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।

'च'कार से इस सूत्र में षष्ठी और सप्तमी दोनों ही की अनुवृत्ति होती है। स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू तथा प्रसूत—इन सात शब्दों के योग में ये विभक्तियाँ होती हैं शेष षष्ठी सिद्ध होने पर भी सप्तमी के समुच्चयार्थ पृथक् करके यह सूत्र विहित हुआ। स्वामी, ईश्वर तथा अधिपति परस्पर पर्याय शब्द हैं, फिर भी सूत्र में इनका पृथक् निर्देश क्यों हुआ?—इसलिये कि इन तीन के योग में ही ये दोनों विभक्तियाँ होंगी, अन्य पर्याय-वाची के योग में नहीं। लेकिन ऐसी स्थिति में दूसरे-दूसरे सूत्रस्थ शब्दों के बारे में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता है कि इनके पर्य्यायवाची शब्दों के योग में भी उक्त विभक्तियाँ होंगी या केवल सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों के योग में ही। दूसरे-दूसरे शब्दों के पर्यायवाची के योग में यदि ये विभक्तियाँ अभीष्ट नहीं हों, और प्रारंभ के तीन परस्पर पर्यायवाची शब्द यदि अन्यारादितरर्ते[1]—'

---

१. पाणिनि : २।३।२९।

अन्य और इतर पर्यायवाची शब्दों की तरह केवल यह ज्ञापित करने के लिये ही निर्दिष्ट कर दिये गये हों कि इनके सभी पर्यायवाची शब्दों के योग में ये विभक्तियाँ होंगी—तो भी नहीं—क्योंकि ऐसी स्थिति में इदद सूत्र की स्थिति की ही तरह यहाँ भी केवल दो पर्यायवाची को सूत्रस्थ करने से ही ऐसा संकेत यथेष्ट संभव था।

उदाहरण में 'गवां स्वामी' या 'गोषु स्वामी' का अर्थ है—'गौओं का मालिक' 'गवां प्रसूत' या 'गोषु प्रसूत' का अर्थ है—'गौओं के बीच ही' (अर्थात् ग्वाऐं के बीच) उत्पन्न हुआ। यहाँ 'गो' शब्द का ग्रहण 'महिष' आदि के निवृत्त्यर्थ है। 'गवां दायादः' या 'गोषु दायादः' का अर्थ है—'पिता आदि के द्वारा अर्जित गौओं का वैध अधिकारी'। लेकिन "यस्मादधिक—" सूत्र के अन्तर्गत भाष्यकार[2] ने 'दायाद' शब्द को 'स्वामी' का ही पर्याय ठहराया है। इस तरह सूत्र में पर्यायवाची शब्द चार हो जाते हैं। लेकिन इनको पर्याय मानना अच्छा नहीं है क्योंकि यद्यपि इसका अर्थ कुछ मिलता है किन्तु, कुछ अन्तर भी है। वृत्ति में सभी शब्दों का प्रयोग 'गो' शब्द के साथ ही दिखाया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसी एक शब्द के साथ उक्त विभक्तियों में सूत्रस्थ सभी शब्दों का प्रयोग सूत्रकार का अभीष्ट था।

आयुक्तकुशलाभ्यांचासेवायाम् ।२।३।४०। आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम्? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः।

'आसेवा' अर्थात् 'तत्परता' अर्थ रहने पर आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होंगी। 'आयुक्त' का अर्थ है व्यापारित—अर्थात् 'लगा हुआ'। 'आयुक्तः हरिपूजने' या 'आयुक्तः हरिपूजनस्य' दोनों हो सकता है। इसी प्रकार 'कुशलः हरिपूजने' या 'कुशलः हरिपूजनस्य' दोनों संभव है। आसेवा या 'सदापरता' अर्थ नहीं रहने पर अधिकरण में केवल

१. पाणिनि : २।३।९।

२. महाभाष्यम् : २।३।२४।

सप्तमी होगी। जैसे प्रत्युदाहरण में 'आयुक्त' का अर्थ केवल है 'लगा हुआ', इसलिये 'शकट' शब्द में केवल सप्तमी हुई। 'कुशल' शब्द के साथ भी श्रद्धा विषयक अर्थ नहीं होने से ऐसा ही होगा। यहाँ विषयाधिकरण में केवल सप्तमी तथा सम्बन्ध मात्र विवक्षा में केवल षष्ठी प्राप्त होने पर दोनों ही विभक्तियों का विधान हुआ। ऐसा तात्पर्य भी नहीं है कि उक्त शब्दों के पर्यायवाची के योग में भी ये विभक्तियाँ हों क्योंकि 'तत्परे प्रसितासक्ता विष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः'[1] में अमरकोष के अनुसार उक्त शब्द एक तरह से प्रसित और उत्सुक के भी पर्याय हैं लेकिन इनके योग में 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च'[2] सूत्र से तृतीया सप्तमी का अलग विधान हुआ है। यहाँ भी 'च'कार से षष्ठी सप्तमी की अनुवृत्ति होती है।

यतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

जहाँ से निर्धारण होता है उसमें षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ होती हैं। अर्थात् जिस प्रवृत्ति निमित्त से निर्धारण होता है तद्‌वाची शब्द में ये दोनों विभक्तियाँ होंगी। साधारण भाषा में निर्धारण का अर्थ किसी विषय को मन में बैठाना है लेकिन यहाँ व्याकरण की भाषा में इसका अर्थ है—जाति, गुण, क्रिया या संज्ञा के द्वारा किसी समूह से उसके एक भाग को अलग करना। संज्ञा का अर्थ यहाँ द्रव्य विशेष या व्यक्ति विशेष है। उदाहरणस्वरूप 'मनुष्य' एक 'समुदाय' रूप है और उसमें से जाति के आधार पर 'ब्राह्मण' को पृथक् कर लिया गया तो मनुष्यवाची 'नृ' शब्द में षष्ठी हुई, सप्तमी भी वैकल्पिक रूप से दिखलाई गई है। यहाँ 'जाति' निर्धारण का मापदण्ड है।

---

१. अमर कोष : ३।१।९।

२. पाणिनि : २।३।४४।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में क्रमशः 'गो' समुदाय से 'कृष्ण रंग की गौ', सामान्य 'गमन' क्रिया से 'धावन' रूप विशेष क्रिया तथा 'छात्र' समुदाय से व्यक्ति विशेष 'मैत्र' निर्धारित किये गये हैं और इन जगहों में क्रमशः गुण, क्रिया तथा संज्ञा ही आधार हैं।

वस्तुतः प्रथम उदाहरण को छोड़ बाकी तीनों की स्थिति पृथक् है। 'गो' समुदाय से 'कृष्णत्व-बहुक्षीरत्व विशिष्ट गौ पृथक् की जाती है, इसी प्रकार 'गमन' क्रिया विशिष्ट समुदाय से 'धावन' क्रिया विशिष्ट तथा 'शीघ्रत्वविशिष्ट, 'छात्र' समुदाय से 'पटुत्व विशिष्ट' तथा 'मैत्र संज्ञा विशिष्ट'। वस्तुतः तो 'नृत्व' से 'ब्राह्मणत्व' का, 'गोत्व' से 'कृष्णत्व' का, 'गमनविशिष्ट से 'धावनविशिष्ट' का तथा 'छात्रत्व' से 'मैत्रत्व' का निर्धारण हुआ है और आधार है क्रमशः 'श्रेष्ठत्व', 'बहुक्षीरत्व', 'शीघ्रत्व' तथा 'पटुत्व', इस प्रकार यदि मान लें कि गुण ही के आधार पर किसी भी प्रकार का निर्धारण किया जा सकता है तो कोई क्षति नहीं। इस सूत्र में भी ऊपर से 'च'कार से षष्ठी सप्तमी की अनुवृत्ति होती है। इस सूत्र के द्वारा जो षष्ठी होती है उसका भी समास 'न निर्धारणे'[1] सूत्र से नहीं होता है। जहाँ समास हुआ रहेगा वहाँ सप्तम्यन्त का समास समझना चाहिये क्योंकि इस सूत्र से निर्धारण में तो दोनों ही विभक्तियाँ होती हैं।

पञ्चमी विभक्ते ।२।३।४२। विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ।

विपूर्वक √भज् से नपुंसक लिंग में भाव में 'क्त'प्रत्यय होने से 'विभक्तम्' हुआ। जिसका अर्थ होगा 'विभाग' अर्थात् 'भिन्नता'। सूत्र का अर्थ हुआ कि यदि निर्धारण रहने पर जिससे निर्धारण किया जाता है उसमें और जो निर्धारित होता है उसमें बिल्कुल भिन्नता अर्थात् पार्थक्य रहे तो जहाँ से निर्धारण हो उसमें न षष्ठी होगी, न सप्तमी, बल्कि पञ्चमी होगी। वस्तुतः ऐसा

---

१ पाणिनि : २।२।१०।

इसलिये होता है चूँकि जहाँ 'यतश्च निर्धारणम्'[1] सूत्र लागू होता है वहाँ सामान्य रूप से अभेद होता है और विशेष रूप से भेद होता है। जैसे सामान्य 'मनुष्यत्व' ब्राह्मण में भी पाया जाता है लेकिन 'ब्राह्मणत्व' विशेष रूप से वहाँ भेद हो जाता है। दूसरी तरफ जहाँ यह सूत्र लगता है वहाँ सर्वथा भेद ही होता है, उदाहरणस्वरूप मथुरा निवासी—'माथुर' और पाटलीपुत्रनिवासी—'पाटलीपुत्रक' में सर्वथा भेद ही है। लेकिन दोनों में मनुष्यत्व तो सामान्य ही है? वस्तुतः विभाग या भिन्नता का यह तात्पर्य नहीं है। केवल निर्धारण में जहाँ एक वृहत्वृत्त (Broad circle) से उसी के मौलिक गुणों वाला, किन्तु एक विशेष प्रकार से उससे भिन्न पदार्थ अलग किया जाता है वहाँ इस सूत्र की परिधि में कोई ऐसा वृत्त नहीं होता। जिस प्रकार 'मनुष्य' से 'ब्राह्मण' पृथक् किया जाता है उस प्रकार 'माथुर' से 'पाटलिपुत्रक' पृथक् नहीं किया जाता। ब्राह्मण 'मनुष्य' का एक भाग है जो पृथक् किया जाता है लेकिन इस प्रकार 'पाटलिपुत्रक' 'माथुर' का कोई भाग नहीं है। साथ-साथ 'मनुष्य' से 'ब्राह्मण' का निर्धारण अधिक मानसिक ही है लेकिन 'माथुर' और 'पाटलिपुत्रक का निर्धारण वास्तविक (Real), स्थितिगत (Terrestrial) और भौतिक (Physical) भी है।

वस्तुतः पृथक्करण ही विश्लेष है, और इस सूत्र के अन्तर्गत सर्वथा भिन्न और पृथक् विषयों में ही किसी आधार पर पृथक्करण होता है। इसलिये इसे बुद्धिकल्पित विश्लेष ही समझना चाहिये। यही कारण है कि भाष्यकार ने 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'[2] सूत्र के अन्तर्गत ही इसकी सिद्धि का इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। यहाँ पुनः प्रारंभ में ही यह प्रश्न आता है कि पंचमी किससे होगी? 'माथुर' शब्द से ही क्यों नहीं होगी जो पाटलिपुत्र के शब्द से होगी? वस्तुतः पूर्वसूत्र से इसमें अनुवृत्ति होती है और तब सूत्र की स्थिति होती है—'यतश्च निर्धारणं (ततः) पंचमी (स्यात्) विभक्ते (सति)। अतः स्पष्ट होता है कि जहाँ से निर्धारण होगा तद्वाची शब्द से ही पंचमी

१. पाणिनि : २।३।४१।

२. ,, : १।४।२४।

होगी 'विभाग' रहने पर। कुछ अन्य वैयाकरणों के अनुसार चूँकि यह सूत्र 'अनभिहिताधिकार' में पड़ता है इसीलिये 'माथुर' शब्द में पंचमी अभीष्ट नहीं है। फिर इस सूत्र में एक अन्तर यह है कि यहाँ निर्धारण जैसा भी हो—उत्कृष्टता के आधार पर या हीनता के आधार पर—वह सदा तारतम्य में (In comparative or superlative degree) होगा। लेकिन केवल निधारण रहने से ऐसी बात नहीं होती। यहाँ तारतम्य आवश्यक (Compulsory) नहीं होगा। 'गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा' भी कहा जा सकता है और 'गवां गोषु वा कृष्णा क्षीरतरा' या 'गवां गोषु वा कृष्णा क्षीरितमा' भी कहा जा सकता है। पुन 'क्षीर युक्तत्व' सामान्यतः 'गो' में भी है और 'कृष्णा गो' में भी। उसी प्रकार 'आढ्यत्व' माथुर में भी है और पाटलिपुत्रक में भी। लेकिन जिस प्रकार 'बहुक्षीरत्व' केवल 'कृष्ण गो' में उसी प्रकार 'आढ्यत्व' केवल 'माथुर' में ही पाया जाता है। इस माने में दोनों सूत्रों की स्थिति में साम्य है। 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्र पटु' में यद्यपि ऐसा दीखता है कि 'पटुत्व' केवल 'मैत्र' में ही है, लेकिन वस्तुत ऐसी बात नहीं है। यहाँ भी तात्पर्य यही है कि यद्यपि दूसरे-दूसरे छात्र में भी 'पटुत्व' है लेकिन वह उस उत्कृष्ट मात्रा में नहीं है जैसा 'मैत्र' नामक 'छात्र' में है। यद्यपि यह सूत्र पंचमी के प्रसंग में अपादान के अन्तर्गत रहना चाहिये था तथापि निर्धारण के प्रसंग में यहाँ षष्ठी सप्तमी के अपवादस्वरूप रखा गया।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।२।३।४३। आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां, न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि कृष्णः साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्।

'साधु' और 'निपुण' शब्दों के योग में 'अर्चा' या पूजा (अथवा 'सम्मान') अर्थ रहने पर सप्तमी होगा, लेकिन 'प्रति' के प्रयोग में ऐसा नहीं होगा। उदाहरण में 'साधु' या 'निपुण' शब्द के योग में 'मातृ' शब्द में सप्तमी दिखलाई गई है।

प्रत्युदाहरण में 'अर्चा' अर्थ के अभाव में सप्तमी का अभाव दिखाया गया है। यहाँ वास्तविक स्थिति का कथन ही तात्पर्य है। अतः 'निपुणो राज्ञः भृत्यः' में 'तत्वकथन' अर्थ रहने पर 'राजन्' शब्द में षष्ठी और 'निपुणो राज्ञि भृत्यः' में अर्चार्थ में सप्तमी होगी। वस्तुतः 'राजन्' का 'भृत्य' के साथ सम्बन्ध-भाव कथित होने पर षष्ठी होती है और जब 'निपुण' शब्द का साक्षात् सम्बन्ध रहेगा 'राजन्' शब्द के साथ और करीब-करीब विषयाधिकरण का भाव रहेगा तो उसमें सप्तमी होती है। अर्थात् 'राजा का भृत्य निपुण है' ऐसा अर्थ रहने पर षष्ठी, और 'भृत्य राजा के काम में निपुण है' ऐसा तात्पर्य रहने पर सप्तमी होती है। वस्तुतः 'निपुण' शब्द अर्चार्थक हो ही क्या सकता है? उसी प्रकार 'साधु' शब्द अर्चार्थक ही होगा—उसमें 'तत्त्वकथन' का क्या तात्पर्य हो सकता है? सूत्रस्थ 'साधु' शब्द के साथ सप्तमी का विधान पहले ही 'साध्वसाधुप्रयोग च' वार्तिक ,से हो चुका है। यदि ऐसी स्थिति में 'प्रति' आदि के योग में सप्तमी-विधान रहता तो यहाँ सूत्र में इस शब्द का समावेश उचित होता? 'प्रति' आदि के योग में 'अर्चा' अर्थ रहने पर सप्तमी नहीं होगी—एतदर्थ संकेतार्थ सूत्र में 'साधु' शब्द का समावेश दूरनेय (Far-fetched) प्रतीत होता है।

अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा।

कात्यायन ने इस वार्तिक के द्वारा उपर्युक्त सूत्र की कमी को बताया। सूत्र में जो कहा गया—'प्रति' के प्रयोग को छोड़कर' ऐसी बात नहीं। 'प्रति' आदि सभी उपसर्ग—अव्ययों को छोड़कर—ऐसा कहना चाहिये था। इसलिये इनके योग में 'साधु' और 'निपुण' शब्द का प्रयोग रहने पर कर्मप्रवचनीय में द्वितीया ही होगी। वार्त्तिक में 'प्रति' आदि सभी उपसर्गों के अभाव का ग्रहण होता है। लेकिन तत्वबोधिनीकार और बालमनोरमाकार के अनुसार यहाँ 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—' सूत्र से केवल 'प्रति', 'परि' तथा 'अनु' की अनुवृत्ति करके केवल उनके ग्रहण का ही अभाव दिखलाया जायगा। इससे तो तात्पर्य है कि अन्य उपसर्ग अव्यय का योग रहने पर सप्तमी हो जायगी।

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४। आभ्यां योगे तृतीयास्याच्चात् सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

'प्रसित' और 'उत्सुक' शब्द के योग में तृतीया होगी और सप्तमी भी। दोनों शब्दों का अर्थ प्रायः एक ही है। सप्तमी का बोध सूत्रस्थ चकार के समुच्चय से होता है। 'प्रसित' का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है—'प्रकर्षेण सित (शुक्ल)'। 'उत्सुक' शब्द के साहचर्य से यह अर्थ यहाँ नहीं होगा। यहाँ केवल विषयाधिकरण सप्तमी की प्राप्ति रहने पर सप्तमी और तृतीया दोनों का विधान किया गया। वस्तुतः तृतीया का प्रयोग यहाँ विचित्र-सा लगता है।

नक्षत्रे च लुपि ।२।३।४५। नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्त्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले श्रवणे इति वा । लुपि किम् ? पुष्ये शनिः ।

यदि नक्षत्रवाची शब्द में कोई प्रत्यय लगाकर लुप्त हो गया हो और उस प्रत्यय का अर्थ अक्षुण्ण हो तो उसमें सप्तमी के साथ-साथ तृतीया विभक्ति भी होगी, यदि वह शब्द अधिकरण संज्ञा में हो। सूत्रस्थ चकार से सप्तमी का समुच्चय प्रसंगानुकूल तथा उपर्युक्त सूत्र[1] 'प्रसितोत्सुकाभ्यां—' से तृतीया की अनुवृत्ति होती है।[2] 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र से मण्डूकप्लुति से 'अधिकरणे' की भी अनुवृत्ति होती है। उदाहरण में 'मूल' और 'श्रवण' शब्द नक्षत्रवाची हैं और 'नक्षत्रेण युक्तः कालः'[3] सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ तथा 'लुब विशेषे'[4] से उसका लोप हो गया। ऐसी स्थिति में लुप् संज्ञा के कारण अण्प्रत्यय का वृद्धिकार्य नहीं हुआ, लेकिन जिस अर्थ में वह यहाँ होता है—

---

१. पाणिनि : २।३।४४।
२. „ : २।३।३६।
३. „ : ४।२।३।
४. „ : ४।२।४।

अर्थात् 'नक्षत्र से युक्त काल' के अर्थ में वह अर्थ रह जाता है। अतः 'मूलेना-वाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्' का अर्थ है कि 'मूल नक्षत्र से युक्त काल में देवी का आवाहन करना चाहिये और श्रवण नक्षत्र से युक्त काल में विसर्जन करना चाहिये। 'मूलेन' और 'श्रवणेन' के बदले 'मूले' और 'श्रवणे' भी हो सकता है। अधिकरण विवक्षित रहने पर तथा नक्षत्रवाची शब्द रहने पर भी यदि उसमें कोई ऐसा प्रत्यय नहीं लगा हो जिसकी लुप् संज्ञा हो गई हो अर्थात् जिसका कार्य नहीं हुआ हो--मात्र उसका अर्थ सुरक्षित हो--तो अधिकरण में केवल सप्तमी ही होगी, तृतीया नहीं होगी। इसी लिये 'पुष्ये शनिः' का अर्थ केवल है—पुष्यनक्षत्र में शनि,' न कि 'पुष्यनक्षत्र से युक्त काल में शनि'। फिर नक्षत्रवाची रहने पर तथा लुप्संज्ञा भी होने पर अधिकरण विवक्षित नहीं होने पर यह सूत्र नहीं लगेगा जैसे 'मूलं प्रतीक्षते' में कभी भी 'मूल' शब्द में तृतीया या सप्तमी नहीं हो सकती। या 'अधिकरण विवक्षा और लुप् संज्ञा होने पर नक्षत्रवाची शब्द ही नहीं रहने पर भी यही गति होगी जैसे 'पञ्चालेषु तिष्ठति' में 'जनपदे लुप्'[1] सूत्र से लुप् संज्ञा हुई है, अधिकरण की विवक्षा भी है, लेकिन 'पञ्चाल नक्षत्रवाची शब्द ही नहीं है। सूत्र लागू होने के लिये सभी शर्तें पूरी होनी चाहिये।

यह सूत्र कुछ कृत्रिम-सा लगता है क्योंकि 'नक्षत्र से युक्त काल' अर्थ नहीं किया जाय तो भी काम चल सकता है। उक्त उदाहरण का अर्थ सीधे-सीधे हो सकता है—'मूल नक्षत्र में आवाहन और श्रवण में विसर्जन करना चाहिये'। केवल इसी अर्थ के लिये लुप् संज्ञा का आश्रय लिया जाता है जो निरर्थक-सा है। मैं समझता हूँ कोई और जगह भी नक्षत्रवाची शब्द का अण्प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं होता है वृद्धि कार्य सहित। ऐसी स्थिति में हो सकता है तृतीया विधान को संगत बनाने के लिये भी यह बखेड़ा खड़ा किया गया हो। लेकिन सप्तमी की तरह तृतीया में भी स्वाभाविक रूप से ही प्रसंगस्थ प्रयोग हो सकता है। ऐसी हालत में उक्त उदाहरण का अर्थ होगा 'मूल नक्षत्र से देवी का आवाहन करना चाहिये और श्रवण नक्षत्र से विसर्जन'।

---

१. पाणिनि : ४।२।८१।

सप्तमी पञ्चम्यौ कारकमध्ये ।२।३।७। शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते 'तदस्मिन्नधिक'-मिति 'यस्मादधि'कमिति च सूत्रनिर्देशात् । लोके लोकाद् वाऽधिको हरिः ।

इस सूत्र में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे', द्वितीया'[1] से 'कालाध्वनोः' की अनुवृत्ति होती है और पचमी विभक्ति में उसका विपरिणाम करके 'कालाध्वभ्याम्' की प्राप्ति होती है। तब अर्थ यह होता है कि 'कारकमध्ये कालाध्वभ्यां सप्तमी पञ्चम्यौ स्त', अर्थात् 'दो कारकशक्ति के बीच यदि कालवाची या मार्गवाची शब्द रहें, तो उसमें सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप 'अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता' में कालवाची 'द्व्यह्' शब्द दो कर्त्ताओं के बीच स्थित है, अतः इसमें विकल्प से सप्तमी और पंचमी दोनों दिखलाई गई हैं। यहाँ एक कर्त्ता तो 'अहम्' शब्द से स्पष्ट है और दूसरा 'भोक्ता' शब्द से। लेकिन 'भोक्ता' भी तो 'अयम्' को ही विशेषित करता है और इस तरह कर्त्ता तो एक ही हुआ ? ऐसी बात नहीं। यहाँ कारक का अर्थ शक्त्याश्रय द्रव्य नहीं, अपितु शक्ति ही है। और यह शक्ति कालभेद से भिन्न होती है। 'एक तो आज √भुज् के साधनस्वरूप है और दूसरी 'दो दिन के बाद'। इसीलिये वृत्ति में कहा गया कि 'द्व्यह' शब्द दो कर्तृशक्ति के बीच में कालवाची है। यहाँ केवल समीपार्थ में अधिकरण की प्राप्ति होने पर सप्तमी होती, अतिरिक्त रूप से तृतीया का विधान हुआ। इस दिशा में अर्थ होगा—'अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहेऽतीते तत्समीपे तृतीयेऽह्नि भोक्ता' 'भोक्ता' शब्द लुट्-एकवचनान्त है।

---

१. पाणिनिः २।३।५।

पुनः दूसरे उदाहरण में 'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्' में कर्तृशक्ति और कर्मशक्ति के मध्य में 'क्रोश' शब्द अध्ववाची है। 'अयम्' शब्द से कर्तृशक्ति स्पष्ट है और 'लक्ष्यम्' से कर्मशक्ति। यहाँ संशय का कोई अवकाशस्थान (Scope) नहीं है क्योंकि कर्त्ता और कर्म दोनों ही शक्तियाँ स्फुट हैं। इसके अतिरिक्त क्रिया के द्वारा भी दोनों शक्तियाँ पृथक् पृथक् निरूपित हैं। 'अयम्' में कर्तृशक्ति 'इहस्थ'–गत अवस्थान क्रिया से निरूपित है और 'लक्ष्यम्' में कर्मशक्ति 'विध्येत्' की 'वेधन'—क्रिया से विशेषित है। यहाँ भी पंचमी या सप्तमी विभक्ति का अर्थ सामीपिक अधिकरणत्व है। इस तरह इस उदाहरणवाक्य का अर्थ है—इहस्थोऽयं क्रोशोत्तर समीपदेशे लक्ष्यं विध्येत्। इस सूत्र में भी पूर्ववत् सप्तमी का प्रयोग ठीक जँचता है लेकिन पंचमी का प्रयोग रूढ़ प्रयोग के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है।

सप्तमी-पंचमी के प्रयोग की शृंखला में वृत्तिकार 'अधिक' शब्द के योग में भी इन विभक्तियों का प्रयोग बतलाते हैं यद्यपि यह न सूत्र में उक्त है और न किसी वार्तिक में। लेकिन दो सूत्र हैं—[1]तदस्मिन्नधिकम्—और यस्मादधिकम्[2]—' जिनसे ज्ञापित होता है कि इसके योग में क्रमशः सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ होती हैं। 'हरिः लोके अधिकः' भी हो सकता है और 'हरिः लोकाद् अधिकः' भी। दोनों ही हालत में अर्थ होगा—हरि लोक या संसार की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। सप्तमी और पंचमी का अर्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जब 'अधिक' के योग में सप्तमी होगी तो 'निर्धारण' अर्थ होगा—अर्थात् लोक रूपी समुदाय से अधिकत्व (Superiority) के कारण 'हरि' का पृथक्करण ऐसी स्थिति में अभिविधि (Inclusion) समझी जायगी, क्योंकि 'हरि' 'लोक' के अन्तर्गत ही समझा जाता है। फिर जब 'अधिक' के योग में पंचमी होगी तो केवल निर्धारण नहीं 'अपितु' विभाग युक्त निर्धारण अर्थ होगा—अर्थात् 'हरि' का 'लोक' से 'अधिक' होना समझा जायगा। यहाँ 'लोक' से 'हरि' के लिये मर्यादा (Exclusion) समझी जायगी।

---

१. पाणिनि : ५।२।४५।
२. ,, : २।३।९।

अर्थात् 'हरि' जो 'लोक' से पृथक् ही है वह 'लोक' को अपेक्षा 'अधिक' (Superior) बतलाया जाता है।

अधिरीश्वरे ।१।४।९७। स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ।

'ईश्वर' शब्द से यहाँ ईश्वरत्व विवक्षित है। ईश्वरत्व का प्रश्न है 'स्वस्वामिभावसम्बन्ध' के अर्थ में। इस अर्थ में 'अधि' उपसर्ग कर्मप्रवचनीय होगा। जैसा हमने अपादान के प्रकरण में 'अपपरी वर्जने' सूत्र के अन्तर्गत स्पष्ट किया है, सामान्यत्वेन कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होने पर भी अपवादत्वेन अन्य विभक्तियाँ व्यवहारानुकूल होती हैं। उक्त सूत्र में तो पंचमी का प्रसंग है लेकिन यहाँ सप्तमी होती है जो अग्रिम सूत्र से स्पष्ट होगा।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि रामः । अधि रामे भूः । 'सप्तमी शौण्डैः' रिति समासपक्षे तु—रामाधीना । 'अषडक्षे'त्यादिना खः ।

इस सूत्र के दो अंश हैं—एक, 'यस्मादधिकम्' और दूसरा, 'यस्य चेश्वरवचनम्'। 'तत्र सप्तमी' का दोनों के साथ समन्वय है। इनमें प्रथम अंश 'उप' कर्मप्रवचनीय के साथ लगता है और द्वितीय अंश 'अधि' कर्मप्रवचनीय के साथ। प्रथम अंश की सार्थकता और सिद्धि के लिये इस सूत्र में 'उप' की अनुवृत्ति 'उपोऽधिके च' सूत्र से होती है जिसके अनुसार 'अधिक' के अर्थ में इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। द्वितीय अंश के लिये तो प्रसंगानुकूल उपर्युक्त सूत्र से 'अधि' की आवृत्ति होती है। अब जिससे (कुछ) अधिक, हो उसमें 'उप' कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है। उदाहरणस्वरूप 'उपपरार्द्धे हरेर्गुणाः' में 'हरि के गुण' 'परार्द्ध' से अधिक बतलाये गये हैं, अतः 'परार्द्ध' शब्द में 'उप' के योग में सप्तमी हुई है। परार्द्ध कहते हैं चरम

पाणिनि : १।३।८७।

संख्या (Infinite number) को जिससे अधिक कोई संख्या संभव नहीं होती है। उदाहरण का अर्थ है—'हरि के गुण। किसी भी संभव संख्या में नहीं गिने जा सकते। द्वितीय अंश के दो अर्थ लगाये जाते हैं—एक जब सूत्रस्थ 'यस्य' से स्वस्वामिभावगत 'स्व' निर्दिष्ट होता है और 'यस्य ईश्वरवचनम्' (उच्यते) का अर्थ होगा—'यस्य स्वस्य सम्बन्धो ईश्वर उच्यते'—तब ऐसी दशा में 'स्व'वाचक शब्द में सप्तमी होगी जैसे 'अधि भुवि रामः' में 'भूः' शब्द में सप्तमी इसीलिये हुई है चूँकि वह 'स्व' है और 'राम' है 'स्वामी'; दूसरा, जब सूत्रस्थ 'ईश्वर' शब्द भावप्रधान माना जायगा और उक्त द्वितीय अंश का अर्थ होगा —'यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते'—तब ऐसी अवस्था में 'स्वामिवाचक शब्द में सप्तमी होगी जैसे "अधि रामे भूः' में 'स्वामि'वाचक 'रामशब्द में सप्तमी हुई है। अतः अलग-अलग इन दोनों अर्थों में 'स्व' और स्वामी' में बारी-बारी से (Alternately) सप्तमी होगी।

बालमनोरमाकार के अनुसार 'अधि रामे भूः' में 'अधि' शब्द का पर्यायवाची समझा जायगा और 'अधिभुवि रामः' में 'अधि' 'स्वामि'-वाची समझा जायगा। ऐसा इसीलिये चूँकि पहले वाक्य में 'अधि' शब्द 'भूः' शब्द को विशेषित सा करता है और दूसरे वाक्य में वह 'रामः' को विशेषित करता मालूम होता है लेकिन '[1]सप्तमी शौण्डैः' सूत्र से समास होने के पक्ष में सप्तम्यन्त 'राम' शब्द के साथ 'अधि' का समास होने पर 'रामाधि' शब्द से 'अधि' के शौण्डादिगणीय होने के कारण 'ख' प्रत्यय लगाने पर 'भूः' को विशेषित करने पर 'रामाधीना' होगा। इस प्रकार 'रामाधीना भूः' वाक्य 'अधि रामे भूः' का अर्थ देगा। विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास में तो 'अधिरामम्' होगा। इस तरह 'अधिरामं भूः' भी उपर्युक्त दो वाक्यवाले अर्थ ही देगा। यह 'अधि रामे भूः के बराबर होगा। 'अधि भुवि रामः' के बराबर समास करने पर तो 'अधिभुवि रामः' होगा, किन्तु यह सामासिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता। ऐसा समझना चाहिये कि 'अधि

---

१. पाणिनि : २।१।४०।

अधि राम ' प्रयोग 'अधि रामे भू ' के समकक्ष केवल 'यस्मादधिकं—' सूत्र में 'यस्य चेश्वरवचन' के स्वस्वामिभावगत विविध व्याख्या के अनुसार केवल असामासिक रूप में ही होगा।

विभाषा कृञि।१।४।६८। अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवती'ति निघातो न ॥ [इति विभक्त्यर्थाः।

'कर्मप्रवचनीयाः'[1] के अधिकार क्षेत्र में इस सूत्र में '[2]'अधिरीश्वरे' की अनुवृत्ति होती है। अतः अर्थ यह होता है कि $\sqrt{}$कृ का प्रयोग परे रहने पर 'अधि' विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञक होगा, यदि प्रयोग से 'ईश्वरत्व' का बोध हो। 'यदत्र [मामधिकरिष्यति' उदाहरण में 'अधिकरण' अर्थात् 'विनियोग' क्रिया से 'विनियोक्ता' में 'ईश्वरत्व बोध होने से 'माम्' द्वितीयान्त हुआ वैकल्पिक पक्ष में कर्मप्रवचनीयत्व में। किन्तु यहाँ द्वितीया तो सामान्य कर्मत्व में ही [3]'कर्मणि द्वितीया से' सिद्ध हो सकती है, तब कर्मप्रवचनीयत्व का फल क्या हुआ? वस्तुतः 'करिष्यति' तिङन्त उदात्त है, अतः उस से पूर्व 'अधि' में गतिसंज्ञा होने के कारण अनुदात्तत्व प्राप्त था, कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर ऐसा नहीं होगा।

॥ इति कारकदर्शनं समाप्तम् ॥

—— ०:——

---

१. पाणिनि : १।४।८३।
२ ,, : १।४।९७।
३. ,, : २।३।२।

पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी

पारिभाषिकन्यायानुक्रमणी

कारिकानुक्रमणी

सूत्रवार्त्तिकानुक्रमणी

प्रयोगानुक्रमणी

विशिष्टप्रयोगानुक्रमणी

—०—

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठसंख्या	पंक्तिसंख्या	शुद्ध
की	भू. १२	८	कि
वृत्ति	,,	१०	वृत्त
अतिशायनि	२	६	अतिशायन
जसे	४	२	जैसे
इत्यवोधिसः	५	१०	इत्यवोधि सः
अपानादि-	६	१७	अपादानादि-
कम	७	१५	कर्म
√अभि = धा	९	१२	√अभि + धा
आपादान	,,	१६	अपादान
धञ्	११	११	घञ्
किया	,,	२३	क्रिया
अर्कमक	१२	४	अकर्मक
जो	,,	८	तो
वार्स्तिक	१६	२७	वार्त्तिक
का	१८	१९	को
दें	१९	२२	देवं
होर्गी	२०	९	होगें
एस्त्वर्थे-	२१	१०	एत्वर्थे—
वैकुण्ठे	२२	१५	वैकुण्ठं
वन	,,	२६	वने
शव्द	२३	२०	शब्द
सख्या-	,,	२४	संख्या
वसेल्ल	,,	२६	वसेरत्र
इस्ट	२४	४	इष्ट
उपरि बुद्धीनाम्	,,	१९,२०	उपरिबुद्धीनाम्
अमितः	२५	१	अभितः
सभा	२६	१०	सभी
पूर्वंवेविचित	,,	१८	पूर्वविवेचित

अशुद्ध	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	शुद्ध
न्व	२७	४	न
लक्षणेर्थं-	२८	२७	लक्षणेर्थं-
Fallay	३०	२	Fallacy
Two	,,	,,	Too
हानी	३१	४	होनी
कर्मप्रवर्चनीय	,,	६,७	कर्मप्रवचनीय
पनि	,,	१८	प्रति
इत्यभूत	३२	१४	इत्थभूतः
कारणार्थक	,,	२१	करणार्थक
भक्ति	,,	२५	भक्त
हरिभभि	३४	१०	हरिमभि
स्तुयाद	३५	३	स्तुयाद्
अत्यन्तं संयोगे	३९	१९	अत्यन्तसंयोगे
Continuons	,,	२३	Continuous
कारकादि	४२	७	कारकाणि
धात्वर्थं	,,	२५	धात्वर्थं
कारण	४३	५	करण
कर्ता प्रथमा	,,	८	कर्तरि प्रथमा
समावेश	,,	१३	समावेश
विशेषजन्य	,,	२३	विशेषजन्य
तद्दुलादि	४४	९	तंदुलादि
कोइ	,,	११	कोई
समर्थित	,,	२१	समर्थित
कर्तुपद	४६	१३	कर्तृपद
अवस्थ	,,	१६	अवस्था
लेकिना	,,	१७	लेकिन
कालान्विशिष्ट	५२	१	कालान्वविशिष्ट
इस	५४	१७	इसका
था	,,	१४	है
स्वस्थ	६०	१९	स्वस्थ
१	,,	२०	१
भक्तिः	,,	२३	भक्ति

अशुद्ध	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	शुद्ध
यजेत	६३	२२	यजते
कहीं-कहीं	६४	७	यहाँ
समानसंज्ञा	६५	२	सम्प्रदानसंज्ञा
रहती है	,,	४	नहीं रहती है
दिवि'	,,	,,	दिवि' में
असूर्यंति	६८	२५	असूयति
की	७०	११	कि
क्रोधद्रुहेर्ष्या-	,,	१५	क्रुध द्रुहेर्ष्या
Spelics	७१	२	Species
ज्ञानाय	७५	१२	ज्ञानं
स्वरित	८३	८	स्वस्ति
मन्ये	,,	१३	मन्वे
चतुर्थी	,,	१५	चतुर्थी
प्रभाद्येति	९०	२	प्रमाद्यति
लक्षण	९१	१२	लक्षणा
वल्मीकि-	,,	२२	वाल्मीकि-
वारण	९३	२०	वारण
यत्ककर्तृस्य-	९४	६	यत्कर्तृकस्य
अदशन	,,	१०	अदर्शन
उपत्ति	९६	७	उत्पत्ति
कस्मात्त्व	१००	६	कस्मात्त्वं
परमाम्नेडित	१०१	१६	परमाम्रेडित
भाप	१०६	२०	माप
पुयो	१११	८	पुभ्यो
निमित्तोय-	११७	१२	निमित्ताय-
तृीतया	११८	१९	तृतीया
पष्ठ्यतसथ-	११९	१	षष्ठ्यतसर्थ
सताप्यो-	१२६	७	संताप्यो-
स्वष्टतः	१३१	२३	स्पष्टतः
वा	१३३	२३	वा
तृच्	१३४	१८	ण्वुल्
उत्पन्न	१३५	४	उपपः

अशुद्ध	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	शुद्ध
पर्ष्ठा	१३६	२४	पर्ष्ठी
अभिप्रन	१३९	४	अभिप्रेत
ल्फ्म्या	१४२	२४	लक्ष्म्या
गृद्धा	,,	२५	गृद्धा
ल्लिप्	१४५	२	लिप्
'शतृके'	,,	,,	'शतृ' के
गर्वा	१४६	१०	गर्वा
धानुर	,,	१७	धानुक'
कुर्वन	,,	१८	कुर्वन्
इन	१४७	१	इन्
Sirialıty	,,	६	Seriality
अधमर्ण्य	,,	९	आधमर्ण्य
चतुर्थी	१४८	७	चतुर्थी
ग्रज	,,	११	ग्रजं
ग्रजाय	,,	१४	ग्रजाय
गामि	,,	१६	गामी
अधम-	,,	१९	अधम-
निशोषित	१४९	२०	निशोषित
कृ यनाम्	१५०	१	कृष्यानाम्
-ग्रानी	,,	२	-ग्रासी
पयस	,,	२०	पयस्
कृ गाय	१५२	१५	कृष्णाय
अशिष्	१५२	१७	आशिष्
मत्र	१५३	१३	मत्र
सन्ति	,,	२०	शन्ति
ममुष्ययार्थं	,,	२१	ममुष्यार्थं
कत्तृ-	१५४	१	कत्तृ-
मधिकरण-	,,	१३	अधिकरण-
को	१५५	२१	का
रूप	,,	२६	रूपं
मार्च	१५६	४	मोक्ष
षयिक	,,	५	वैषयिक

अशुद्ध	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	शुद्ध
विपयधिकारणे	,,	६	विपयाधिकरणे
–धातुनियोंगे	१५८	२०	–धातुभियोंगे
सम्वन्ध	१५९	१५	सम्बन्ध
तिमित्तवाची	,,	२१	निमित्तवाचो
कर्त्ताश्रया	१६१	११	कर्त्राश्रया
विशेप	१६२	९	विशेप–
अनुवृति	१६३	१६	अनुवृत्ति
समुच्ययार्थ	,,	१९	समुच्चयार्थ
उद्धत	१६४	३	उद्धृत
हरह	,,	४	तरह
वैद्य	,,	१०	वैध
गच्छतस्सु	१६५	१४	गच्छत्सु
–स्वरूप	,,	२१	–स्वरूप
द्यावन	१६६	२,७,९	धावन
क्षीरतरा	१६८	८	क्षीरितरा
नहीं	,,	१६	नहीं
अर्या	,,	२४	अर्चा
–प्रयोग	१६९	१२	–प्रयोगे
लगाकर	१७०	१४	लगाकर
लुव विशेप	,,	२१	लुव्विशेपे
अद्म	१७२	२	अद्य
–पञ्चाम्या–	,,	५	–पञ्चम्या–
अयम्	,,	१६	अहम्
कारणे	१७३	२०	कारण
लिपे	१७४	२१	लिये
अधिभुवि	१७५	२५	अधिभु
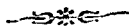
पादटिप्पण

पृष्ठ संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२९ पा० टि० २	पृ० सं० ४०	पृ० सं० २०
४२ पा० टि० ३	पृ० सं० ३५	पृ० सं० १७
७२ पा० टि० ३	पृ० सं० ३९	पृ० सं० १७
८० पा० टि० १	पृ० सं० ६	पृ० सं० १० (भूमि
८२ पा० टि० १	पृ० सं० ७८	पृ० सं० ५८